प्रजातन्त्र की ओर

गोरखनाथ चौबे एम० ए०

प्रकाशक

साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग

दद्दू जी (श्री बाबू भगवती प्रसाद जी)

समर्पण

स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में जिसका उद्देश्य महान् है; जो अपने जीवन का प्रतिक्षण नारी-जीवन के उत्थान में व्यतीत कर रहा है; और जिसकी रचनात्मक बुद्धि का प्रभाव मेरे जीवन पर गहरा पड़ा है; ऐसे हिन्दू महिला-विद्यालय के संचालक पूज्य दद्दू जी के कर-कमलों में सादर समर्पित ।

प्रकाशकीय

प्रजातन्त्र की ओर के लेखक श्री गोरखनाथ जी चौवे से हिन्दी-जगत पूर्णतया परिचित है। चौवे जी इधर कई वर्षों से अर्थशास्त्र और राजनीति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य करते रहे हैं। प्रस्तुत ग्रंथ आज के एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर कलात्मक-ढंग से प्रकाश डालता है। विषय विचारणीय है और यह पुस्तक विषय पर अधिकारी विचारों का संग्रह। आशा है, विचारक ग्रंथ-कार और ग्रंथ के साथ न्याय करेंगे !

साहित्य-भवन लि०,
प्रयाग

पुरुषोत्तमदास टंडन
मंत्री

भूमिका

सामाजिक जीवन में राजनीतिक संस्थाओं का मूल्य इतना अधिक है कि इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रत्येक युग में सरकारी संगठन का महत्व इतना अधिक रहा है कि इसी पर समाज के सुख और शान्ति का भार माना जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सरकारी ढाँचे में दो पक्ष इतनी खूबी के साथ अलग किये गये हैं कि एक ही व्यक्ति दोनों स्थानों पर अपने को भिन्न समझता है। अमुक व्यक्ति किसी सरकारी पद पर अपने कितने ही कार्यों के लिये पश्चाताप् करता है, परन्तु क़ानून के वशीभूत होकर वह इसे करने के लिये विवश है। इसके अन्दर केवल रोटी का सवाल नहीं है, वल्कि सरकारी शक्ति उसे ऐसा करने के लिये वाध्य करती है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि राजकीय व्यवस्था सामाजिक उत्थान में कितना ज़वरदस्त हाथ रखती है। वर्त-मान शासन विधान प्राचीन संगठन से भिन्न हैं। हमारी आवश्यकताओं तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण मानव जीवन की समस्यायें इतनी जटिल हो गई हैं कि पहले जमाने के सीधे सादे विधानों से अब काम नहीं चल सकता।

इतने परिवर्तनों के वावजूद आपस के व्यवहार अथवा जीवन की शुद्धता के वसूल लगभग एक से हैं। नीति विषयक प्राचीन ग्रन्थों में जिन नियमों की व्याख्या की गई है वे इतने नये तुले और सर्वकालीन हैं कि वर्तमान राजनीतिक साहित्य में उनका उपयोग अच्छी तरह हो सकता है। शुक्रनीति, विदुर-नीति, कामन्दकीय सार आदि ग्रन्थों में राजा के कर्तव्यों की विस्तृत विवेचना की गई है। यद्यपि आज उस तरह के एकतन्त्र राज्य नहीं रहे, परन्तु जहाँ तक राजा और प्रजा के सहयोग का प्रश्न है, इसे हम उन ग्रन्थों से वहुत कुछ सीख सकते हैं। प्राचीन नियम सामयिक वन सकते हैं। राजा और प्रजा के सहयोग और सामञ्जस्य पर प्रत्येक युग में कुछ न कुछ लिखा गया है और आगे भी लिखा जायगा। एक वात का अवश्य ध्यान रखना होगा कि दोनों के लिये

उन्नति अवनति के साधन क्या हैं। यदि इस तरह के साहित्य लिखे और पढ़े जाँय तो हम अपनी समस्यों को आसानी से सुलझा सकेंगे। राजनीतिक साहित्य जिन जिन विषयों पर प्रकाश डालता है उनकी तह में उपर्युक्त दोनों पक्षों के सामञ्जस्य का भाव छिपा रहता है।

राजा और प्रजा के सम्बन्ध में जितना अधिक संस्कृत साहित्य में लिखा गया है उतना और कहीं नहीं मिलता। योरपीय भाषाओं में राजनीतिज्ञों ने इस पर कम नहीं लिखा है, परन्तु उनकी लेखन शैली में वह स्पष्टता और गुरुता नहीं मिलती जो भारतीय लेखकों में पाई जाती है। सूत्र के रूप में वृहस्पति और चाणक्य ने जो गम्भीर विवेचना इसके सम्बन्ध में की है वह मैकेवली के विशेष प्रयत्नों से सैकड़ों दरजे ऊँची है। राजनीतिक साहित्य का क्षेत्र बढ़ जाने के कारण राजा और प्रजा के प्रत्यक्ष सम्बन्ध में ग्रन्थों का अभाव लोगों को मालूम नहीं पड़ता। इन दोनों के बीच में आज इतना अन्तर पड़ गया है कि इन्हें एक साथ समझने में कठिनाई होती हैं। साथ ही कुछ लोग इसकी आवश्यकता भी नहीं समझते। लेकिन इतना तो उन्हें मानना ही होगा कि जब तक ये दोनों पक्ष मिलकर काम नहीं करते और एक दूसरे के मूल्य को कम समझते हैं तब तक उनकी महिमा और सामाजिक शान्ति का कोई ठोस विधान नहीं बन सकता।

प्राचीन काल में सरकारी पक्ष का महत्व राजा की योग्यता पर निर्भर था। हमारे देश में मुसलमानी ज़माने तक यह बात पाई जाती है। लेकिन वर्तमान शासन विधान राजा को प्रतीक मात्र समझते हैं। मंत्रियों, तथा अन्य सरकारी पदाधिकारियों के अधिकार इतने अधिक कर दिये गये हैं कि राजा के व्यक्तित्व के सिवाय उसके अधिकार का कोई प्रश्न नहीं उठता। ऐसी दशा में वर्तमान राजनीतिक संगठन में उसके प्रभुत्व की चर्चा करना अथवा उससे राजनीतिक परिवर्तन की आशा करना केवल कल्पना है। चर्चा राजकीय पक्ष के आधार पर होनी चाहिये-ताकि प्रजा वर्ग को उससे कुछ लाभ हो। यद्यपि प्रजातन्त्रवाद के अन्तर्गत प्रजा के राजनीतिक अधिकारों की वृद्धि की गई है, परन्तु जिस सुख और शान्ति के निमित्त ऐसा किया गया है उसकी पूर्ति अभी

काफ़ी दूर है। इसका सब से उचित निदान डूगिट तथा कतिपय भारतीय विद्वानों के उस सिद्धान्त के अन्दर छिपा हुआ है जिसमें अधिकार को छोड़कर कर्तव्य पर ही ज़ोर दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में राजा और प्रजा—इन दोनों पक्षों की वैज्ञानिक विवेचना इस उद्देश्य से की गई है कि दोनों के मनोमालिन्य काफ़ी अंश तक दूर हो जायँ। दोनों अपने अपने कर्तव्यों का पालन करते हुये राष्ट्र के वैभव की वृद्धि करें। इसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय विधान पर भी कम नहीं पड़ता। वर्तमान युद्ध प्रत्येक राष्ट्र की आर्थिक और मानसिक शक्ति को कमज़ोर करता है। यदि दोनों पक्ष इसकी रक्षा और वृद्धि का साधन समझकर अपने आप को एक उचित दायरे के अन्दर रक्खें तो राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में जल्दी कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। अतएव इस ग्रन्थ के अन्दर राजा और प्रजा के अधिकार तथा कर्तव्यों की व्याख्या मात्र नहीं की गई है, वरन् दोनों पक्षों के सामञ्जस्य की पुष्टि के लिये एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। प्रत्येक दृष्टिकोण से पुस्तक सामयिक और लोकोपयोगी है। यद्यपि इसके सिद्धान्त किसी भी देश पर लागू हो सकते हैं, परन्तु भारतीय वातावरण का विशेष समावेश किया गया है। प्रजातन्त्रवाद की असफलता का मूलकारण हमारे अन्दर उत्तरदायित्व का अभाव है। सभी कारणों को अपने से बाहर खोजने की भावना वर्तमान युग में इतनी अधिक हो गई है कि अपराधी भी अपने आप को दोषी नहीं समझता।

राजा और प्रजा—इन दोनों की व्याख्या वर्तमान युग में एक नये प्रकार से होनी चाहिये। प्राचीन सिद्धान्त इसकी पुष्टि कर सकते हैं, परन्तु वे इसे सामयिक नहीं बना सकते। संस्थाओं और संगठनों का स्वरूप पहले से इतना भिन्न हो गया है कि जब तक एक व्यापक दृष्टि कोण से इन्हें समझने का प्रयत्न नहीं किया जायगा, तब तक इनके नवीन होते हुये भी हमारी रहन सहन के कितने ही पहलू प्राचीन बने रहेंगे, और हमारे विचारों का संघर्ष जारी रहेगा। जब तक विचारों में नवीनता नहीं आती तब तक अच्छा से अच्छा नया वातावरण हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करता। इस लिए विचारों को

बदलना संगठनों की उलट फेर से कम आवश्यक नहीं है। शरीर को पुष्ट और निरोग रखने के लिए हमें जितनी आवश्यकता उत्तम खाद्य पदार्थों की है उससे अधिक आवश्यकता अपने आप को नियमित और संयमी रखने की है। दोनों को अलग अलग करने से शरीर पुष्ट नहीं रह सकता। यही दशा राजनीतिक संगठन की है। जब तक पूरी ज़िम्मेवारी एक पर समझी जायगी और दूसरा पक्ष केवल टैक्स देने का साथी रहेगा, तब तक इस संगठन का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता।

राजा के कर्त्तव्य, इसकी नवीन व्याख्या, प्रजा का नवीन दृष्टि कोण, प्रजातन्त्र-वाद का महत्व और इसकी सफलता, राष्ट्रीय शान्ति, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, शासन विधान की उपयोगिता आदि विषयों पर प्रस्तुत पुस्तक में विचार किया गया है। आशा है पाठकगण अथवा विद्वत्-समाज इसकी उपयोगिता की वृद्धि के लिए यथा सम्भव हमारे विचारों से सहमत होंगे और यदि उन्हें कोई नवीन व्याख्या खटकती है तो उसकी सुझान कराने का कष्ट करेंगे। राष्ट्रीय शान्ति और उत्थान में इस ग्रन्थ से यदि कुछ भी सहायता प्राप्त हुई तो मेरा परिश्रम काफ़ी अंश तक सफल रहेगा। पुस्तक को इतना शीघ्र प्रकाशित करने का श्रेय श्री बाबू पुरुषोत्तमदास जी टंडन को है। इन्हीं की कृपा से यह पाठकों के सम्मुख आ सकी, अन्यथा इसमें एक वर्ष से कम की देर न लगती।

हिन्दू महिला विद्यालय
प्रयाग
११—१—१९४५

गोरख नाथ चौबे

विषय सूची

प्रजातन्त्र की ओर

पहला अध्याय

राजा कौन ?

भौतिक सिद्धान्त की तरह सामाजिक अथवा राजनीतिक संगठन में कोई वस्तु स्वतः सिद्ध नहीं है। हर बात कार्य-कारण के प्रभाव से बनती और बिगड़ती रहती है। हमारे पूर्वजों के लिए जिन संस्थाओं की उपयोगिता अधिक थी और जिनके निर्माण में उन्होंने अपना अमूल्य समय और अतुल धन-व्यय किया उनका उपयोग हमारे लिए अब कुछ भी नहीं रहा। यदि उन्हें हम जीवित रक्खे हैं तो इसका कारण उनकी उपयोगिता नहीं वरन् अपने पूर्वजों का सम्मान है। इसके लिए हमें अथवा हमारी आने वाली सन्तान को निष्ठुर कहा जाय तो यह एक बहुत बड़ी भूल होगी। देश-काल से सभी वस्तुएँ घिरी हुई हैं। दृढ़ से दृढ़ संगठन और बड़ी से बड़ी संस्थाएँ कभी न कभी नष्ट-भ्रष्ट होती हैं। इनके निर्माता इसका अनुमान न करें, परन्तु इतिहास में इसके प्रमाणों की कमी नहीं है। योग्य से योग्य शासकों की योजनाएँ मालूम नहीं कहाँ चली गयीं; नालन्दा, तक्षशिला, स्कन्दरिया ऐसे विश्व-विद्यालयों की एक ईंट का भी आज पता नहीं रहा; अच्छी से अच्छी शासन-पद्धतियाँ बदलते-बदलते अपने उद्देश्य से विचलित हो गयीं; राज-प्रासादों के भग्नावशेष भी नहीं रहे। जब काल इतना बलवान है तो उसके सामने किसी राजनीतिक संगठन की क्या हस्ती है।

'राजा' शब्द अत्यन्त प्राचीन है। इसका अर्थ 'भूपाल' अर्थात् 'जो प्रजा का पालन और राज्य की रक्षा करे,' ऐसा किया गया है। जब एकतन्त्र राज्यों की व्यवस्था थी और राजा की नियुक्ति उसकी योग्यता और वीरता के अनुसार की जाती थी, उस समय उसके अधिकारों और कर्तव्यों का एक विशेष महत्व होता था। उसी की आवाज़ पर प्रजा को चलना पड़ता, उसी

की चलायी नीति, प्रजा-धर्म कहलाती और समस्त राज्य कर्मचारी प्रत्यक्ष रूप से उससे शक्ति और अधिकार प्राप्त करते थे। एक लम्बी तनख्वाह लेकर किसी आलीशान महल में ऐशो-आराम की ज़िन्दगी बसर करने वाले राजा को एक अनभिज्ञ समाज भी पसन्द नहीं करता। राजा समाज का एक आदर्श व्यक्ति होता और उसे शासन की सभी कलाएँ सिखला दी जातीं। लेखक और कवि उसके गुणों की प्रशंसा में नाना प्रकार के ग्रन्थ तैयार करते। उसके दैनिक जीवन का कार्यक्रम इतना सरस और आडम्बरपूर्ण होता कि राज-दरबार स्वर्ग-तुल्य मालूम पड़ते। सवेरे से शाम तक राज-दरबार में शासन सम्बन्धी कार्य चलते रहते थे और राजा अपने मन्त्री की सलाह से इन्हें स्वयम् करता। भोजन और विश्राम के अतिरिक्त बाकी सारा समय उसे काम में ही व्यतीत करना पड़ता। यदि वह महत्वाकांक्षी होता तो उसे सोने और खाने की भी फुरसत न मिलती। साम्राज्य-विस्तार-पिपासा में उसे रात-दिन व्यस्त रहना पड़ता और कभी-कभी इसी धुन में उसे अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता था।

इस माप-दंड से नापने पर अब किसी भी राज्य में राजा नहीं रहे। तो क्या यह मान लिया जाय कि राजा कोई नहीं है? फिर इंग्लैंड, इटली, जापान आदि देशों में इस शब्द का प्रयोग क्यों होता है? लगभग सभी राज्यों में विभिन्न नामों से यह पद निर्धारित किया गया है। राज्य के कितने ही बड़े कार्य उसके नाम पर किये जाते हैं। इतना जरूर है कि उसके प्राचीन अधिकार और कर्तव्य अब जाते रहे। जब कोई भी योग्य व्यक्ति उस पद पर आरूढ़ हो सकता था और अपने अधिकारों की बदौलत वर्षों राज्य करता तो यह बात कुछ समझ में नहीं आती कि अधिकार-रहित और कर्तव्य-हीन व्यक्ति राजा क्योंकर बने रहे? सरकारी टिकटों, सिक्कों, सन्धि-पत्रों आदि वस्तुओं पर उसकी प्रतिमा का उपयोग किया जाता है। क्या कोई अन्य प्रधान सरकारी कर्मचारी, (जो सचमुच कुछ अधिकार रखता हो और अपने कर्तव्यों के लिए पूर्ण उत्तरदायी हो), अपनी प्रतिमा का इस प्रकार उपयोग नहीं करने देगा? कहा जाता है कि 'ब्रिटेन का सम्राट् कोई ग़लती नहीं कर सकता।'

जापानी अपने सम्राट् को किसी देवता से कम नहीं समझते । क्या यह श्रद्धा वर्तमान राजाओं के व्यक्तित्व के कारण है अथवा उस पद के लिए जो सदियों से चला आ रहा है ? किसी पद की महिमा तभी बढ़ती है जब उसके साथ अधिकार की एक बहुत बड़ी शक्ति हो या उस पर आरूढ़ व्यक्ति कोई दैवी या अभूतपूर्व शक्ति रखता हो । बड़े-बड़े मठों की गद्दी की महिमा अब तक इसीलिए है कि किसी समय कोई पहुँचे हुए साधु-सन्यासी वहाँ रहते थे और उनकी विभूतियों पर विमुग्ध होकर कुछ धनी-मानी लोगों ने हज़ारों की जायदाद उन्हें सुपुर्द कर दी । यद्यपि अब वे जीवित नहीं रहे, परन्तु उन्हीं के नाम पर मठों की स्थिति क़ायम है ।

हमारे प्राचीन इतिहास में राजा को ईश्वर का अंश माना गया था ।[1] परन्तु बाद में राजा की दैवी शक्ति में लोगों का विश्वास नहीं रहा । वैज्ञानिक युग की करामातों ने इसे अन्धविश्वास कह कर दूर कर दिया । किसी भी देश का राजा अपने पद के कारण किसी विशेष योग्यता का अधिकारी नहीं समझा जाता । उसके अन्दर प्रबन्ध-शक्ति, संगठन-कला तथा राज्योन्नति की कोई नवीन योजना है तो लोग उसका आदर अवश्य करते हैं । शाब्दिक अर्थ के कारण लोगों की वह श्रद्धा अब जाती रही जो जीते-जागते प्रतिभाशाली राजाओं में थी । कुछ समय पूर्व राजा विलासिता की सामग्री माने जाते रहे । जैसे हम मन के आनन्द के लिए अपने शरीर पर कुछ वस्तुएँ धारण करते हैं वैसे ही समाज ने राजा को धारण किया है । ब्रिटेन की पार्लियामेन्ट में यह प्रश्न उठाया जा चुका है कि राजा के न रहने से समाज को क्या हानि है । चूँकि समाज परम्परा का दास होता है इसलिये उसका पद अनिवार्य हो गया है । जब उसके अधिकार और कर्तव्यों का प्रश्न उठता है तो लोग एक स्वर से मानने को तैयार हैं कि उनकी उसे आवश्यकता नहीं है । ऐसी दशा में किसी विचारवान व्यक्ति को इस बात के मानने में कठिनाई न होगी कि राजा का प्राचीन गौरव, उसकी प्रतिभा, उसका अधिकार तथा राजनीतिक महत्त्व

---

[1]बालोऽपि नाव मन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः,
महती देवताह्येषा नर रूपेण तिष्ठति ।

अब बिलकुल जाता रहा। अर्थात् राजपद में एक महान् परिवर्तन कर दिया गया। वर्तमान राजनीतिक संगठन में उसकी व्याख्या किसी और तरह से होनी चाहिए। राजकीय भावना अमर है। समय के अनुसार उसके अर्थों में उलट-फेर होती रहेगी। किसी साधारण व्यक्ति को अपनी श्रद्धा अथवा परंपरा के कारण यदि लोग राजा मानते हैं तो उससे उसकी राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती।

जब प्रत्येक देश में राजा और प्रजा मौजूद हैं तो इन दोनों को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। राजसत्ता का यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि राजा प्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योंकि राजकीय व्यवस्था उसी की शक्ति पर निर्भर करती है। लेकिन ऊपर इस बात पर विचार किया गया है कि वर्तमान राजा शक्तिहीन और अधिकार रहित हैं, तो फिर कौन सी शक्ति प्रजा को एक संगठित रूप दिये हुए है? कुछ लोगों का विचार है कि प्रजातन्त्रवाद अभी इतना विकसित नहीं हुआ है कि 'राजा' शब्द समाज से सर्वथा हटा दिया जाय। जब व्यक्तिगत योग्यता इतनी बढ़ जाय कि समाज-हित और व्यक्तिगत हित में कोई अन्तर दिखायी न दे तो यह मानने में कोई कठिनाई न होगी कि राजनीति प्रजा की वस्तु है और वह अपना शासन स्वयम् करती है। वास्तव में प्रजा को अभी वे सब अधिकार प्राप्त नहीं हैं जिनकी बदौलत वह अपनी उन्नति का स्वप्न देखती है। कर्तव्य में वह पीछे भले ही हो, परन्तु उसके अधिकार कम नहीं होने चाहिये। यह इस युग की एक विशेषता है जिस पर अगले अध्याय में विचार किया गया है। इस समय किसी भी देश की प्रजा यह कहने को तैयार नहीं है कि वहाँ उसे सम्पूर्ण राजनीतिक शक्ति प्राप्त है। राजा का हुक्म अब भी उसे मानना पड़ता है; उसकी इच्छा के विरुद्ध इस समय भी टैक्स लगाये जाते हैं; यहाँ तक कि उसकी जान जोखम में डालकर लड़ाई का ऐलान भी कर दिया जाता है और फिर उसके हितों के विरुद्ध कितने ही क़ानून पास होते हैं। क्या प्रजा अपने आप इस मुसीबत को अपने सर पर लेती है? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। वास्तव में कोई और ताक़त उसके ऊपर काम कर रही है जिसे वह अच्छी तरह अनुभव करती है,

लेकिन उसे वह रोक नहीं सकती।

फिर इस राजकीय शक्ति की व्यापकता मानने का एक और रास्ता निकल सकता है। यदि राजा की कोई अप्रत्यक्ष शक्ति मान ली जाय तो कोई कठिनाई नहीं रह जाती। देखने के लिए तो एक व्यक्ति अधिकार-शून्य करके बैठा दिया गया है, लेकिन वास्तविक शक्ति किसी न किसी अप्रत्यक्ष व्यक्ति में ज़रूर है। परन्तु यदि यह शक्ति कोई व्यक्ति है तो वह अप्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यह माना जा सकता है कि पहले की बनी-बनायी शक्ति को लोग अपने आप मानते चले जा रहे हैं और किसी को ध्यान नहीं रहा कि अब उस शक्ति का संचालक कौन है। पहले तो जनता को इतना कूप मंडूक नहीं कहा जा सकता, फिर बलवान से बलवान शासक कोई ऐसी व्यवस्था नहीं बना सकता जो सदैव के लिए अमर हो। यदि ऐसा होता तो अशोक, हर्ष, अकबर, औरंगजेब, शिवाजी आदि सम्राटों की सत्ता आज भारतवर्ष से नष्ट नहीं हुई होती। वैज्ञानिक युग में किसी अप्रत्यक्ष शक्ति की कल्पना तर्कपूर्ण नहीं है। विश्वास के आधार पर कोई छोटा-मोटा वर्ग कुछ दिन भले ही चला जाय, लेकिन कोई राष्ट्रीय विधान इस पर नहीं बन सकता। इसलिए किसी अप्रत्यक्ष शक्ति में राजा की कल्पना निराधार है। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि राजा की शक्ति का लोप हो गया। वर्तमान राष्ट्र पहले से अधिक सुसंगठित और शक्तिशाली हैं। उनकी उन्नति की पराकाष्ठा उनके व्यापार, अनुसन्धान, अन्वेषण तथा अन्य कृतियों से भली भाँति प्रकट है। राज्य में कहीं न कहीं वह शक्ति मौजूद है। राजनीतिक जगत में अन्य परिवर्तनों के साथ इस पद में भी इतना महान परिवर्तन हुआ है कि जब तक हमारा दृष्टिकोण नहीं बदलता तब तक हम उसे देख नहीं सकते।

राजसत्ता की उधेड़बुन में हम जितनी ही गहराई में प्रवेश करते हैं उतना ही यह प्रश्न और भी जटिल होता जाता है। इसका कारण यह है कि हम साधारण बुद्धि से गूढ़ सिद्धान्तों का अर्थ निकालना चाहते हैं। वर्तमान युग में राजा को पहचानने के लिए हमारी बुद्धि व्यापक होनी चाहिए। जो अधिकार किसी समय राजा को दिये गये थे और जिन कर्तव्यों की हम उनसे

आशा करते थे वे सब आधुनिक युग में सरकारी कर्मचारियों और प्रजा के प्रतिनिधियों को प्रदान किये गये हैं । यदि हम अपनी राजकीय व्यवस्था से सुख और शान्ति की आशा करते हैं तो कर्मचारी वर्ग का सुधार अनिवार्य है । यह बात निर्विवाद है कि आज हमारा सम्पर्क राजा अथवा उसके मन्त्रियों की अपेक्षा पुलिस और पटवारी से अधिक घनिष्ट है । दूसरें यही लोग हमारी उन्नति में किसी बड़े कर्मचारी से अधिक हाथ रखते हैं । पटवारी नाराज होकर हमारी जायदाद को बिगाड़ सकता है । इसी तरह पुलिस हमें किसी जाल में फाँस कर दोषी ठहरा सकती है । ये बातें केवल कल्पना नहीं वरन् रोज़ घटित होती हैं ? कचहरियों में काफी मुकदमें पुलिस और पटवारी से सम्बन्ध रखते हैं । शहरों में एक चुंगीघर का साधारण नौकर सवेरे से शाम तक सैकड़ों आदमियों के साथ व्यवहार करता है । उसकी नाराज़गी से छोटे-मोटे अनेक व्यापारियों को सैकड़ों का घाटा हो सकता है । म्युनिसिपल बोर्ड का चेयरमैन अथवा इंजीनियर लोगों को उतनी हानि नहीं पहुँचा सकता जितनी एक भंगी और दफ़्र का छोटा क्लार्क । इसका कारण कुछ तो छोटे कर्मचारियों में शिक्षा तथा उत्तरदायित्व का अभाव है और कुछ आम जनता से उनका व्यापक और प्रत्यक्ष सम्बन्ध ।

गाँव के साधारण किसान और मज़दूर छोटे से छोटे सरकारी कर्मचारी को 'सरकार' और 'हाकिम' कहते हैं । वैज्ञानिक दृष्टि से वे ग़लत ज़रूर हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनका ऐसा कहना ठीक है । हर मामले में हुक्म की तामील अथवा नियमों का पालन उन्हीं की अध्यक्षता में करना पड़ता है । किसान को इस बात का क्या पता है कि कलक्टर, कमिश्नर, गवर्नर, वाइस-राय आदि कर्मचारियों के क्या-क्या अधिकार हैं और किन मौक़ों पर वह इनसे मदद ले सकता है । यदि कभी उसे इनसे मिलने की आवश्यकता पड़ती है तो वहाँ भी छोटे कर्मचारियों की ही शरण लेनी पड़ती है । एक साधारण चपरासी तक को खुश करना पड़ता है । लोग इनकी लानत मलामत ही नहीं सहते बल्कि उलटे इन्हें कुछ भेंट भी करते रहते हैं । यदि वे ऐसा न करें तो अफ़सरों से मिलने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी । सरकारी ऐलान में घूसख़ोरी

क़ानून के विरुद्ध है और साबित होने पर घूसख़ोर को कड़ी से कड़ी सज़ा दी जाती है। परन्तु क्या यह आम बात नहीं है कि हर मामूली काम के लिए लोगों को क़चहरियों में पैसे ख़र्च करने पड़ते हैं। शायद ही कोई सरकारी विभाग ऐसा होगा जिसमें किसी न किसी रूप में यह घृणित काम न किया जाता हो। कर्मचारी इसकी माँग पेश न करें फिर भी गरजमन्द अपने आप उनकी भेट करते हैं। घूसख़ोरी एक प्रकार का जुआ है जिसमें दोनों पक्ष लाभ की आशा रखते हैं। रेलवे दफ़्तर के छोटे-छोटे कर्मचारी तबादले और तरक़्क़ी में वेतन से दूनी और चौगुनी रकम कमा लेते हैं। परन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि इसका अन्तिम भार प्रजा के उस वर्ग पर पड़ता है जिसका इन कामों से कोई सम्बन्ध नहीं है। देश की ग़रीबी और एक दूसरे के प्रति सद्भावना के अभाव का यह भी एक कारण है।

अधिकारों की दृष्टि से एक साधारण सरकारी कर्मचारी का स्थान कम नहीं है। उसका बड़ा अफ़सर काग़ज़ी कार्रवाइयों तथा लोगों से मिलने-जुलने में आगे जरूर होता है, लेकिन काम का पूरा भार उसी पर पड़ता है। इस भार के बदले व्यावहारिक रूप से वह अधिकार का भागी बन जाता है। इस सूक्ष्म व्याख्या का तात्पर्य यह है कि राजा से लेकर उसके मन्त्रियों तथा अन्य बड़े कर्मचारियों के अधिकार क्रमशः कम होते गये हैं और इनकी प्राप्ति छोटे कर्मचारियों को हुई है। जिस प्रकार राजा आज अधिकार-रहित है और प्रभाव-मात्र रखता है उसी तरह वह समय दूर नहीं है जब कि अन्य बड़े कर्मचारी भी निरर्थक सिद्ध होंगे। समाज उन्हीं की पूजा करेगा जो उद्यमी और पराक्रमी होंगे, जिनके कार्यों से प्रजा को प्रत्यक्ष लाभ पहुँचेगा। विलासिता की रक्षा समाज वहीं तक कर सकता है जहाँ तक उसकी आर्थिक और बौद्धिक उन्नति इसकी गुँजाइश रखती है। यदि छोटे-मोटे कर्मचारियों से उसका काम चल जाता है और राज्याधिकार सारे समाज में फैल जाते हैं तो कोई वजह नहीं है कि वह लम्बी-लम्बी तनख़्वाहें देकर बड़े कर्मचारियों की सेवा-अर्चना करे। परम्परा के वशीभूत होकर समाज कितनी ही कमज़ोरियों का दास बना है। लेकिन सुधार और विकास होने पर वह इन्हे कभी न कभी अवश्य दूर

कर सकता है। एक समय आयगा जब राजा की तरह बड़े कर्मचारियों की आवश्यकता भी केवल विलासिता की सामग्री समझी जायगी। उनकी बची-खुची सत्ता उन कर्मचारियों को प्राप्त होगी जो आज उनके नीचे कार्य कर रहे हैं और जिनका आम जनता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

इससे स्पष्ट है कि राजा जितना ही आराम-तलब होता गया और अपने कार्यों का भार मन्त्रियों तथा अन्य कर्मचारियों पर छोड़ता गया उतना ही उसका अधिकार कम होने लगा। अधिकारों का वितरण राज्य-सत्ता के ऐतिहासिक विकास का एक विषय है। किसी भी राज्य में आज कोई ऐसा कर्मचारी नहीं रहा जिसके हाथ में शासन की पूरी बागडोर हो। जहाँ केन्द्रीय शासन की सुदृढ़ व्यवस्था है वहाँ भी इस प्रकार के कर्मचारियों का अभाव है। राजनीतिक अधिकारों का विकेन्द्रीकरण नये युग के राज्य-विस्तार और साम्राज्य-शासन की आवश्यकताओं के कारण हुआ है। जब एक देश कितने ही देशों पर शासन करेगा तो यह स्वाभाविक है कि उन सुदूर देशों में अधिकारों की ज़िम्मेवारी कई कर्मचारियों को दी जाय। साम्राज्य-वाद के अन्दर प्रजातन्त्रवाद की यह भावना इतनी बारीकी से छिपी हुई है कि साम्राज्य-संचालन की शोषण नीति के सामने इस उदारता का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। फिर भी इस नीति में वास्तविक परिवर्तन की माँग पूरी होने के साथ-साथ इसका नक़शा दिखायी देने लगता है। अधिकारों के एकीकरण की नीति अब इतनी असामयिक और दोषपूर्ण समझी जाने लगी है कि संसार के कई पिछड़े हुए देश भी इसकी अवहेलना करने लगे हैं। इन अधिकारों के वितरण का क्या कारण है इस विषय पर किसी स्वतन्त्र अध्याय में विचार किया जायगा। यहाँ केवल इस बात पर विचार करना है कि राजा कौन है। यदि कोई एक व्यक्ति इस पद पर आसीन नहीं है तो फिर उसकी शक्ति को लेने वाले कौन हैं। किसी भी देश के सरकारी कर्मचारियों के अधिकारों को देखते हुए यह बात स्पष्ट है कि राजा की शक्ति का एक बहुत बड़ा अंश उन्हें प्राप्त हुआ है। यदि यह मान लिया जाय कि राजा के अधिकारों को समस्त कर्म-चारियों ने बाँट लिया है तो यह कोई अयुक्ति नहीं मानी जायगी। इस परि-

णाम से यह प्रश्न साफ़ है कि सरकारी कर्मचारी या शासक-वर्ग ही राजा हैं और वे एक दूसरे के सहयोग से सम्पूर्ण प्रजा पर शासन करते हैं।

वर्तमान युग में संगठन का महत्व किसी व्यक्तिगत महत्व से कम नहीं है। जब तक एक व्यक्ति किसी संगठित समाज का सदस्य नहीं बनता तब तक उसके कार्यों का प्रभाव अप्रत्यक्ष तथा शून्य रहता है। प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक अंश है। सांस्कृतिक उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि हर मनुष्य समाज के इस सम्बन्ध को ध्यान में रख कर अपने आपको एक दूसरे से अलग न समझे। हमारे प्रत्येक कार्य का प्रभाव समाज पर और सामाजिक कार्यों का प्रभाव हम पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। यदि हमारे ऋषि-मुनियों ने मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी ठहराया है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य प्राणी एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं। सामाजिक होना मनुष्य की कोई विशेषता नहीं है और न इस पर अधिक कहने की जरूरत है। चींटी, पशुपक्षी, मछली, बन्दर, मच्छड़ आदि जीव भी सामाजिक हैं। इनमें भी सामाजिक रहन-सहन की व्यवस्था पायी जाती है। फिर मनुष्य के सामाजिक होने की बात को हम एक नयी और कौतूहल की वस्तु क्यों समझते हैं ? बात यह है कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो अपने विचारों को क्रियात्मक रूप दे सकता है। उसके अन्दर सोचने और करने की दो शक्तियाँ मौजूद हैं। यदि उसे यह ज्ञान हो जाय कि वह समाज का एक अंश है तो उसके कार्यों का महत्व बढ़ जाता है। इसी से वह सुसंस्कृत और सभ्य कहलाता है। प्रसिद्ध अँगरेज लेखक मैथ्यु आर्नल्ड अपनी पुस्तक 'कलचर ऐंड एनार्की' में लिखता है—'सभी मनुष्य एक बड़े परिवार या कुटुम्ब के सदस्य हैं। इसलिए उनके हृदय की प्रकृतिजन्य सहानुभूति किसी एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से विलग नहीं होने देती और न उसे इस बात की आज्ञा देती है कि वह अपना व्यक्तिगत हित समाजहित से अलग समझे। इसीलिए सांस्कृतिक आधार पर लोक-व्यापी मानवी उन्नति के विचार से हमारे समाज का विकास बहुमुखी और चतुर्दिक्-व्यापी होना चाहिए। जब तक संसार का एक भी व्यक्ति इस व्यापक और विस्तृत आयोजन से अलग है उस

समय तक मनुष्य पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता।" जब तक मनुष्य व्यक्तिगत उन्नति और लोक-हित की सामंजस्यविधि नहीं निकाल लेता तब तक उसकी संस्कृति कमज़ोर और अपूर्ण समझी जायगी। संस्कृति की व्याख्या करते हुए पालसेन लिखता है, "सामूहिक सुखमय जीवन से संस्कृति का विकास होता है।" तात्पर्य यह है कि सामाजिक जीवन का रहस्य अत्यन्त गूढ़ है और इसका ज्ञान लोगों को जितना ही अधिक होगा उतना ही वे सुखी और प्रसन्न रहेंगे।

सामाजिक जीवन का आरम्भ छोटे-छोटे संगठनों से होता है। कुटुम्ब, ग्राम, जातीय पंचायतें, व्यावसायिक संघ, राजनीतिक दल, धार्मिक संगठन आदि संस्थाएँ लोगों को इस व्यवस्था का दिग्दर्शन कराती हैं। इनमें प्रवेश कर हर व्यक्ति को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिलता है। इनके द्वारा वह अपनी आवाज़ को अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचा सकता है। उसके पीछे एक संगठित जमात होती है जो उसको सामूहिक उन्नति की बनी-बनाई सामग्री प्रदान करती है। संगठनों द्वारा व्यक्ति को किसी रचनात्मक विषय पर विचार करने तथा उसे कार्यान्वित करने का मौक़ा मिलता है। प्रत्येक संगठन अपने उद्देश्यों के प्रचार के लिए नाना प्रकार के साधन रखता है। उसके सदस्यों को उसकी दृढ़ता पर गर्व और भरोसा रहता है। मज़दूर संघ मज़दूरी की वृद्धि के लिए जिन साधनों का आश्रय लेता है वह किसी एक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। यह एक छोटी सी कहावत है कि सहयोग शक्ति का साधन है। व्यक्तिगत सेवाएँ संगठन का सहारा लेने से लोक-व्यापी और अनुकरणीय बन जाती हैं। यदि हर एक व्यक्ति अलग अलग अपने कार्यों की व्यवस्था करे तो समाज में रहते हुए भी उसका जीवन एकांगी कहलायेगा। इसी प्रकार संस्थाओं का संगठनों से कम महत्व नहीं होता। बैंक, स्कूल, क्लब, मन्दिर, आश्रम, गुरुकुल आदि समाज की कम सेवा नहीं करते। इन संस्थाओं से व्यक्ति को जो लाभ पहुँचते हैं वे बिखरे हुए जीवन में सम्भव नहीं हो सकते। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ और बैंक जो स्थान रखते हैं, क्या बड़े से बड़ा व्यापारी उसकी तुलना कर सकता है? कितने ही धनी-मानी

अपने बच्चों को घरों पर शिक्षा दिलाने का प्रबन्ध करते हैं, परन्तु कालेजों और विश्व-विद्यालयों से निकले हुए विद्यार्थियों के मुक़ाबिले इनकी संख्या कितनी है ! छोटे-छोटे दीन-हीन व्यक्तियों को दो चार पैसे देने वालों की संख्या कम नहीं, लेकिन सेवा और त्याग का जो उदाहरण मठों और मन्दिरों की सम्पति में मौजूद है वह अन्यत्र कहाँ मिलेगा।

जब संगठनों और संस्थाओं का इतना अधिक महत्व है तो समाज इनकी अवहेलना नहीं कर सकता। सामाजिक जीवन में इनके कार्यों का एक विशेष मूल्य है। अपने कार्यों की इतनी बड़ी जिम्मेवारी को ये संस्थाएँ बिना किसी अधिकार के नहीं निवाह सकतीं। अधिकार और कर्तव्यों का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है वह समाज शास्त्र-वेत्ताओं को अच्छी तरह मालूम है। क्या ये संस्थाएँ बिना किसी अधिकार के अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकती हैं ? मान लीजिये किसी मिल में ४ हज़ार मज़दूर और २०० अन्य कर्मचारी काम करते हैं। मिल-मैनेजर को रोज़ उनकी देख-रेख तथा कामों की जाँच-पड़ताल करनी पड़ती है। यदि उसे जुर्माना करने तथा काहिल और अयोग्य व्यक्तियों को निकाल देने का अधिकार न हो तो मिल का काम सुचारुरूप से कदापि नहीं चल सकता। इसी प्रकार स्कूलों तथा कालेजों के लिए यह अधिकार आवश्यक है कि वे विद्यार्थियों के सुधार करने तथा उनकी योग्यता बढ़ाने के लिए दंड दे सकें। किसी न किसी हद तक उन्हें यह अधिकार प्राप्त भी है। यही वजह है कि ये संस्थाएँ सुसंगठित रूप से चलती रहती हैं। जब उनमें नियम की ढिलाई आ जाती है तो उनका पतन आरम्भ हो जाता है। अतएव किसी व्यक्ति वा संस्था का पतन कर्तव्य-पालन के कारण उतनी जल्दी नहीं होता जितना अधिकार की कमी से होता है। अनादि काल से चलने वाली कुटुम्ब नामक संस्था को क़ानूनी और सामाजिक दोनों तरह के अधिकार प्रदान किये गये हैं। इसीलिए हमारे देश में क्रान्तियाँ और आक्रमण होते रहे, राज्य परिवर्तन भी हुए तथा अनेक घरेलू युद्धों का सामना करना पड़ा, परन्तु कौटुम्बिक जीवन अपनी उसी चाल से चलता रहा। आज भी उसकी महिमा कम नहीं हुई है।

यह बात निर्विवाद है कि संस्थाओं और संगठनों का महत्व सरकारी कर्मचारियों से कम नहीं है। यदि एक को राजा की शक्ति का कुछ अंश प्राप्त है तो दूसरा भी इसकी प्राप्ति की हामी भर सकता है। सरकारी कर्मचारियों द्वारा मनुष्य के राज्य की स्थापना हुई है तो संस्थाएँ कानून का राज्य स्थापित करती हैं। सामाजिक व्यवस्था का शायद ही कोई अंग ऐसा होगा जिसमें संस्थाओं का हाथ न हो। इसी प्रकार विचारों के क्षेत्र में हमें हर प्रकार के संगठन दिखाई पड़ेंगे। इन दोनों से सामाजिक जीवन के एक बहुत बड़े भाग की पूर्ति होती है। ऐसी दशा में यदि कहा जाय कि संस्थाएँ और संगठन समाज पर राज्य करते हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। कुटुम्ब १०-२० व्यक्तियों को शासन-सूत्र में बाँधे हुए हैं, मजदूर संगठन हज़ारों मज़दूरों के हित का ठेका लिये हुए हैं, शिक्षा-संस्थाएँ लाखों विद्यार्थियों पर शासन कर रही हैं और मन्दिर-मठों में हज़ारों साधु-सन्यासियों की नियमित व्यवस्था की गयी है। फिर इसमें कोई संदेह नहीं है कि सरकारी संस्थाएँ सामाजिक जीवन में उतना हाथ नहीं रखतीं जितना अन्य ग़ैर सरकारी और सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाएँ। इसलिए उन्हें राजा मानने में हमें हिचक नहीं होनी चाहिए। जब हमारे ऊपर किसी एक व्यक्ति का प्रभाव नहीं पड़ता और दैनिक जीवन में हमारे सभी व्यावहारिक कार्य छोटे-छोटे संगठनों द्वारा चलते रहते हैं तो यह स्पष्ट है कि हमारे लिए राजा की शक्ति एकत्र नहीं है; वह अनेक रूपों में बिखरी हुई है। जातीय पंचायतें, धार्मिक रूढ़ियाँ, संस्कार, त्यौहार आदि हमारे जीवन को एक विशेष ढाँचे में डालते हैं। कोई सरकारी हुक्म हमें उतना चिन्तित नहीं करता जितना हमारे आचार विचारों से सम्बन्ध रखने वाली संस्थाओं का प्रकोप।

इतिहासज्ञ इस बात को स्वीकार करते हैं कि मनुष्य का जीवन आरम्भ में आजकल की तरह सुसंगठित न था, तो भी वह गिरोह में रहता था। परन्तु उसके मस्तिष्क का अभी इतना विकास नहीं हुआ था कि वह अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों को कोई बाह्य संगठित रूप दे सके। धीरे-धीरे उसे इस संगठन-कार्य में सफलता मिलती गयी और उस की आन्तरिक शक्तियाँ विकसित

होकर बाहरी संस्थाओं और संगठनों के रूप में आज दिखायी पड़ रही हैं। जब तक उसे इस संगठन-शक्ति का अच्छा ज्ञान न था तब तक एकतन्त्र शासन उसे ईश्वर की देन मालूम पड़ती थी। उसे अपनी आत्मनिर्भरता अथवा विश्वास पर उतना भरोसा न था जितना राजा की शक्ति पर। इसीलिए इन अदृश्य शक्तियों के सारे कल्पनासूत्र उसे राजा में दिखलायी पड़ते थे। उसके जीवन में चाहे कितनी भी कमज़ोरियाँ क्यों न हों, परन्तु राज-दरबारों में पहुँचते ही उसे स्वर्ग का आनन्द मिलता था। अमूल्य से अमूल्य वस्तु राजा को प्रदान की जाती थी; उसकी प्रशंसा में काव्य और महाकाव्य लिखे जाते थे; उसकी रक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता था; उसका जीवन हर दृष्टि से पवित्र और उन्नत माना जाता था। यहाँ तक कि लोगों को उसके सामने हर तरह का अन्ध-विश्वास तर्कपूर्ण मालूम पड़ता था। कुछ लोग राजदरबारों में इसलिए पड़े रहते थे कि जीविका के साथ-साथ उनकी सुगति होगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन की सरसता के अनेक साधन वहाँ मौजूद थे और आमोद-प्रमोद की सभी वस्तुएँ उपलब्ध थीं, परन्तु इन सबसे भी बढ़कर बात यह थी कि दरबारी लोगों को वहाँ रहने से एक अनन्त गौरव प्राप्त था। उस ज़माने में व्यक्तिगत जीवन की उन्नति के ऐसे विशद साधन उपलब्ध न होने के कारण मनुष्य की विचार-शक्ति उन बातों की ओर न जाती थी जो आज व्यक्तिगत सम्पत्ति से भी बढ़कर समझी जाती हैं। प्रत्येक दशा में उन्हें राजा का ही आश्रय लेना पड़ता था।

विचारों की वृद्धि के साथ यह बात स्पष्ट होती गयी कि महान् से महान् व्यक्ति का जीवन पूर्ण नहीं है। विकास की पराकाष्ठा तक पहुँचना हर निर्बल प्राणी के लिए अत्यन्त दुरूह है। इसी समय मनुष्य को यह भी अनुभव हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर सम्पूर्ण विभूतियाँ समान रूप से मौजूद हैं। वह कहीं भी इनकी उन्नति कर सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि उसका जीवन सामाजिक होना चाहिए। इन्हीं विचारों ने राजा की शक्ति को धीरे-धीरे कमज़ोर करना आरम्भ किया। फलतः राजा के प्रति वह अन्ध-विश्वास की भावना जाती रही जो लोगों को आनन्द प्रदान करती थी। उन्होंने अपनी

इच्छानुसार उन संगठनों और संस्थाओं का जन्म दिया जिनका विकसित रूप अब हमारे सामने मौजूद है। जिन अधिकारों को राजा की दैवी शक्ति कहा गया था और जिनके विरुद्ध आवाज़ उठाना पाप समझा जाता था, उन्हीं के बल पर इन नवीन संगठनों की नींव रक्खी गयी। तब फिर यह कहना कि संस्थाएँ और संगठन ही आज राजा बन गये हैं, कोई अनुचित बात न होगी। समाज मूर्खों के किसी समूह को नहीं कहते। इसके अन्दर विद्वान्, सदाचारी, आदर्श-सेवी विशेषज्ञ—हर तरह के लोग रहते हैं। कोई आततायी अथवा मक्कार सबों को थोड़े समय तक या कुछ लोगों को काफ़ी समय तक धोखा दे सकता है, परन्तु अनादिकाल तक उसकी यह चाल नहीं चल सकती। शारीरिक बल अथवा किसी विशेष युक्ति से यदि एकतन्त्र राजाओं ने पृथ्वी पर कुछ समय तक राज्य किया है तो इसका बहुत कुछ कारण उनकी लोक-हित की भावना है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में व्यक्तिहित और लोक-हित इतने पास-पास आ गये हैं कि मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता को अपने हितों का मूल समझता है। यह युग विश्वास और श्रद्धा को वहीं तक स्थान देता है जहाँ तक उसमें तर्क और सत्य का अंश हो। अपनी बनायी हुई संस्थाएँ और स्वनिर्मित संगठन हर एक को कल्याण के सूचक दिखायी पड़ते हैं। फिर इनसे परे किसी को महत्व देना और उन्हें शक्ति या अधिकारों से विभूषित करना कल्पना नहीं तो और क्या है। *मनुष्य का राजा मनुष्य स्वयम् है।* उसका कार्य किसी एक व्यक्ति या छोटे से गिरोह से नहीं चल सकता। आज उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति देश-विदेश में स्थित नाना प्रकार की संस्थाओं द्वारा होती है। इन्हीं को वह आदर की दृष्टि से देखता है और इन्हीं की रक्षा की उसे सदैव चिन्ता लगी रहती है। इसलिए पहली पुरानी राज्य-श्रद्धा अब ढाँचे के रूप में भले ही रह गयी हो, किन्तु उसका वास्तविक ध्यान अब किसी और तरफ़ है।

इस विवरण से प्रकट है कि समाज ने राजाओं से छीन कर सारी शक्तियाँ सरकारी कर्मचारियों तथा संस्थाओं और संगठनों को दे दी हैं। परन्तु इतने ही से हम सन्तुष्ट नहीं हो जाते। पत्र-पत्रिकाओं में अकसर सरकारी कर्मचारियों की टीका-टिप्पणी होती रहती है, कितने ही नये संगठन बनते हैं

और अनेक लोकहितकारी संस्थाओं का विकास होता रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि राजा कौन है और उसके उचित अधिकार कहाँ होने चाहिए—इस विषय पर समाज हर समय विचार करता है। स्वतन्त्रता और बौद्धिक विकास की प्रगति को देखते हुए यह जान पड़ता है कि मनुष्य व्यक्तिगत जीवन को सामाजिक जीवन के साथ किसी और प्रकार से जोड़ना चाहता है। इसके लिए उसे एक नये शास्त्र की आवश्यकता है। किसी समाज शास्त्रज्ञ के शब्दों में "वर्तमान उन्नतिशील समाज की लोक-व्यापी आवश्यकताओं और मानवी प्रकृति की व्यक्तिगत आवश्यकताओं का सामंजस्य उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक हम मानवी प्रकृति-शास्त्र के व्यापक सिद्धान्त को न समझ लें।" न व्यक्ति समाज पर हावी हो, और न सामाजिक संगठन ही इतने जोर-दार हों कि उनके अन्दर व्यक्ति कोई चीज़ ही न रहे। इस जटिल प्रश्न को हल करने में कितने ही समाज-शास्त्री अपना अमूल्य समय ख़र्च कर रहे हैं। आधुनिक समाज न तो व्यक्तिगत महत्व को कम करना चाहता है और न अपनी सत्ता को व्यक्ति के ऊपर लादना चाहता है? इसीलिए राज्य की शक्ति बहुत ही डाँवाडोल है। समाज ने उसे छीन कर अपने हाथ में ले रक्खा है, परन्तु अभी उसे इस बात का दृढ़ निश्चय नहीं है कि किसके हाथ में उसे रक्खा जाय। किस संगठन का कितना महत्व है और किसका कहाँ तक विकास हो सकता है—इन बातों का ज्ञान न होने से आँख मूँद कर उन्हें शक्तियाँ प्रदान नहीं की जा सकतीं। मनुष्य एक विचारक प्राणी है और विज्ञान ने उसे यह शिक्षा दी है कि विशुद्ध ज्ञान वही है जो स्पष्ट और लोकोपयोगी हो। आध्यात्मिक ज्ञान की पिपासा इस युग में इसीलिए कम है कि वह व्यक्ति को समाज से अलग करता है।

अस्तु कोई एक व्यक्ति समाज का राजा नहीं है। सरकारी कर्मचारियों को भी हम राजा नहीं कह सकते। संस्थाएँ भी अभी इतनी दृढ़ और हमारे मन के अनुकूल नहीं बनी हैं कि हम उन्हें अपना राजा मान लें। तब यह प्रश्न कैसे हल हो कि राजा कौन है।

वास्तव में राजा कोई नहीं है। इसके प्रमाण भी स्पष्ट हैं। यदि जनता

किसी को अपना राजा मान लेती है और उसमें पूरी श्रद्धा के साथ विश्वास करती है तो कोई कारण नहीं है कि देश-देशान्तरों में लड़ाई ऐसी कुत्सित बीमारी फैलती रहे। लेकिन हमारे सामने यह दृश्य मौजूद है कि लड़ाइयाँ हो रही हैं और लोग भूख तथा नाना प्रकार की कठिनाइयों के शिकार बने हुए हैं। बेकारी, अशिक्षा, राष्ट्रीय वैमनस्य आदि महान् कमजोरियाँ समाज की शक्ति को खोखला कर रही हैं। शायद ही कोई देश ऐसा होगा जो इनका शिकार न हो। यदि ऐसा कोई सर्वगुण-सम्पन्न राजा होता और प्रजा ने अपनी इच्छा से उसे सारे अधिकार प्रदान किये होते तो आज समाज इतना उद्विग्न और संकटग्रस्त न होता। ऐसे राजा के न होने का हमें कोई आश्चर्य नहीं है। कहा जाता है कि मालिक की उपस्थिति में उपद्रव नहीं होते। लोक-हितकारी राजकीय शक्तियाँ यदि कार्य करतीं तो देश-देशान्तरों में अशान्ति और दुःख का राज्य न होता।

यद्यपि राजा कोई नहीं है परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके अधिकारों का लोप हो गया। सभी अधिकार मौजूद हैं, लेकिन वे सरकारी कर्मचारियों, विभिन्न संस्थाओं और संगठनों में इतनी बुरी तरह फैले हुए हैं कि कोई एक दूसरे के भय से उनका व्यापक प्रयोग नहीं करता। इसीलिए कर्तव्य-पालन में तरह-तरह की बाधाएँ पड़ती हैं। किसी भी देश में प्रजा ने अपनी इच्छा से एक स्वर से यह ऐलान नहीं किया है कि अमुक-अमुक संस्थाएँ वा व्यक्ति उसके राजा हैं। समाज अभी इस बात पर विचार कर रहा है कि वह अपने शासन की बागडोर किस तरह के संगठनों को सौंपे ताकि फिर उसे उलझनों का शिकार न बनना पड़े। हर देश का शासन-विधान इसी खिचड़ी में पड़ा हुआ है और हर मामले में प्रजा की बेबसी और कर्तव्य-हीनता स्पष्ट दिखायी पड़ रही है।

दूसरा अध्याय

राजसत्ता का वितरण

विज्ञान की उन्नति ने समय और दूरी को इतना कम कर दिया है कि पुराने पैमाने बेकार सिद्ध हो रहे हैं। सामाजिक व्यवस्था अन्य व्यवस्थाओं से सर्वथा भिन्न नहीं है। एक दूसरे से कहीं न कहीं मनुष्य की विचार-धारा मिली हुई है। सभ्य संसार में संगठनों की वृद्धि—एक के बाद दूसरी और फिर तीसरी—स्वतन्त्र रूप से नहीं एवम् शृंखलाबद्ध हुई है। सबके पीछे कुछ स्थूल सिद्धान्त हैं, जिनके परिवर्तन के कारण पूरी व्यवस्था में परिवर्तन होना अनिवार्य है। समय और स्थान इन दोनों का सामाजिक व्यवस्था के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक की अवहेलना करके हम दूसरे पर सही तरीके से विचार नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए सामन्तशाही प्रथा को लीजिये। जब किसी राजा को एक बड़े राज्य पर शासन करना पड़ता जहाँ आवागमन की वर्तमान सुविधाएँ न थीं तो बेचारा क्या कर सकता था। उसके लिए यह आवश्यक था कि वह राज्य के छोटे-छोटे प्रान्त बड़े-बड़े सामन्तों और ज़मीन्दारों के अधिकार में छोड़ दे, क्योंकि शासन की सुविधा के अतिरिक्त उसे उनकी सहायता अनिवार्य थी, इसलिए हर एक से किसी न किसी तरह का इक़रार भी कराना पड़ता था। उन्हें देश की रक्षा के लिए फ़ौज, क़िले, घोड़े आदि रखने पड़ते। जो आवश्यकता पड़ने पर राजा के काम आते थे। यह प्रथा नीचे से ऊपर तक सीढ़ी की तरह इस प्रकार संगठित थी कि अपने समय की यह सबसे उत्तम व्यवस्था समझी जाती थी। लेकिन नवीन अनुसन्धानों और आवागमन की सुविधाओं ने जब संसार की दूरी को कम कर दिया तो प्राचीन संगठनों में परिवर्तन की आवश्यकता मालूम पड़ी। कुछ तो लोगों की विचार-धारा में तब्दीली हुई और कुछ बाहरी सुविधाएँ मिलीं। अस्तु इन दोनों के कारण धार्मिक संगठनों, राजनीतिक संस्थाओं तथा सामाजिक व्यवस्थाओं में अनेक परिवर्तन किये गये।

व्यक्ति की तरह समाज भी रूढ़ियों का दास होता है। जो परिपाटी कुछ समय तक चल पड़ती है उसे वह जल्दी नहीं छोड़ पाता। बड़े-बड़े सुधारकों को इस कठिनाई का मुक़ाबिला करना पड़ा है। पुरानी व्यवस्था को छोड़ कर किसी नयी चीज़ को अपनाने में समाज को एक प्रकार की हिचक होती है। यह दूसरी बात है कि इन दोनों में कौन उत्तम है। वह इनकी अच्छाई और बुराई पर उतना ध्यान नहीं देता जितना नवीनता और प्राचीनता पर। इस हिचक के दो कारण हैं। एक तो उसे यह विश्वास नहीं है कि सभी नयी चीज़ें अच्छी होती हैं। फिर सुधारकों और समाज-सेवियों का उतावलापन समझ कर वह कितनी ही बातों पर ध्यान देने से हिचकता है क्योंकि उसके पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि नयी व्यवस्था सर्वथा अच्छी ही है। इसके विपरीत सुधार विरोधियों की टीका-टिप्पणी के कारण नवीनता की अनेक कमजोरियाँ उसके सामने उपस्थित हो जाती हैं। दूसरा कारण उसका निजी स्वभाव है। अधिक काल तक जब समाज किसी परम्परा को अपना लेता है तो उसकी सारी व्यवस्था उसी के अनुकूल बन जाया करती है। एक जगह परिवर्तन करने का तात्पर्य यह होता है कि सब में संशोधन किया जाय। इतनी परेशानी के लिए समाज तैयार नहीं होता। फिर पुराने विचार के लोग इससे और भी सहमत नहीं होते। यही वजह है कि वृद्धजन नवयुवकों की राय को पसन्द नहीं करते। प्रत्येक कुटुम्ब में इस विषय में मतभेद रहता है और कभी-कभी आपस में वैर-विरोध तक की नौबत आ जाती है। इसीलिए क्रान्तियों से मानव समाज को उतना लाभ नहीं होता जितना साधारण सुधारों अथवा क्रमशः उन्नति से।

विज्ञान की उन्नति ने मनुष्य के दृष्टिकोण को बनाया है। आजकल का कोई नवयुवक जिसने आधुनिक विचारों की जानकारी हासिल कर ली है, परिवर्तनों से अधिक नहीं घबड़ाता। उसका तो विश्वास है कि हम परिवर्तनशील युग में जीवन व्यतीत कर रहे हैं, इसलिए किसी भी प्रकार का आन्दोलन, संगठन और सुधार—ये सब उसके लिए स्वाभाविक हैं। परिवर्तन न होने में उसे आश्चर्य ज़रूर है परन्तु नयी विचार-धारा के प्रसार में उसे कोई आश्चर्य

नहीं होता। धीरे-धीरे संसार की गति को देखते हुए उसे एक प्रकार की व्याकुलता होती है कि सारी बातों में एक क्रान्तिकारी उथल-पुथल क्यों नहीं हो जाती। हर पहलू से वह नये विचारों का साथ देने को तैयार है। कारण यह कि किसी चीज़ की नवीनता इस वैज्ञानिक युग में एक कहानी मात्र है। जिस चीज़ को हमारे देशवासी नवीन समझते हैं और जिन विचारों से हमें एक महान् परिवर्तन दिखायी पड़ता है वे वर्षों पहले किसी न किसी देश में प्रचलित हो चुके हैं। वहाँ के निवासियों के लिए वे प्राचीन हैं परन्तु हमारे लिए नवीन। आवागमन की सुविधाओं के कारण यह भेद-भाव काफ़ी अंश तक दूर हुआ है क्योंकि अब हर विचार कम से कम समय में सारे संसार में व्याप्त हो जाता है। परन्तु अब भी कुछ देश आगे और कुछ पीछे हैं। कुछ जातियों की रहन-सहन में इतनी स्वतन्त्रता और भावुकता मिलेगी कि अन्य देशवासी वहाँ तक पहुँचने में असमर्थता प्रकट करेंगे। ब्रिटेन तथा युरोप के अन्य देशों म जो रहन-सहन पायी जाती ह वह भारतीयों के लिए कौतूहल की वस्तु है। यद्यपि ये सभी आपस में एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं और इनके स्वार्थ एक दूसरे से मिले हुए हैं, फिर भी इनम नवीनता की कमी नहीं है।

नवीनता के क्षेत्र म दो देशों की तुलना करने की आवश्यकता नहीं है। अपने ही देश में एक चीज़ कुछ लोगों के लिए नवीन और कुछ को प्राचीन मालूम पड़ती है। इसका कारण अपना-अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण और शिक्षितावस्था का मापदंड है। सभ्यता की जिस कोटि पर व्यक्ति पहुँच जाता है वहीं से उसे संसार की चीजें एक विशेष प्रकार की दिखायी पड़ती हैं। इसीलिए कुछ विद्वानों का कहना है कि विचारों में परिवर्तन नहीं होता, परिवर्तन होता है मनुष्य के दृष्टिकोण में जिसके द्वारा वह विचारों को ग्रहण करता है। राजनीतिक क्षेत्र में विचार-धाराओं का एक ऐसा समन्वय दिखायी पड़ता है जो अन्य क्षेत्रों में सम्भव नहीं। कारण यह है कि धर्म की तरह राजनीति केवल विश्वास की चीज़ नहीं है। कोई भी सरकार अपने नागरिकों को इस बात की स्वतन्त्रता नहीं दे सकती कि जो चाहे टैक्स दे और जो चाहे न दे। इसी प्रकार क़ानून भी विश्वास पर नहीं छोड़े जा सकते। यदि कभी

देशवासियों को इनसे समान लाभ पहुँचता है, परन्तु इनका मानना और न मानना उनकी इच्छा पर निर्भर नहीं है। सरकार यह जानती है कि कितने ही प्राणी अपने हितों को नहीं समझते। या तो उनकी बुद्धि अपरिपक्व है या उन्हें विशेष परिस्थितियों का ज्ञान नहीं है। राजनीतिक परिवर्तनों का प्रभाव सब पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। धार्मिक क्रियाओं से हम अपने आपको अलग रख सकते हैं, आर्थिक क्षेत्र में हम एक प्रकार के पेशे को छोड़कर किसी दूसरे पेशे को अपना सकते हैं, जाति वा वर्ग की कितनी ही बातों से ऊब कर हम किसी और जगह निवास कर सकते हैं, परन्तु किसी सरकार की नीति से घबड़ा कर हम कोई ऐसा स्थान तलाश नहीं कर सकते जहाँ किसी प्रकार का राजनीतिक संगठन न हो। राजनीति प्रत्येक व्यक्ति से संबंध रखती है। अपनी इच्छा के विरुद्ध भी हमें उसके कतिपय सिद्धान्त मानने पड़ते हैं।

जब राजनीतिक संगठन का हमारे जीवन पर इतना व्यापक प्रभाव पड़ता है कि हम उससे उदासीन् नहीं रह सकते तो क्या यह बुद्धिमत्ता नहीं है कि हम इस विषय के उन पहलुओं पर जो हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं हर समय विचार करते रहें। किसी की कही हुई बातों को ज्यों का त्यों मान लेना वर्तमान युग में एक बहुत बड़ी कमजोरी समझी जाती है। हर मनुष्य के पास बुद्धि है और वह विचार करने के लिए स्वतन्त्र है। कार्य करने में रुकावट हो सकती है, परन्तु सिसरो के शब्दों में "विचार स्वतन्त्र है।" किसी के मन को जंजीर अथवा किसी अन्य युक्ति से बाँधा नहीं जा सकता। यद्यपि रूढ़िवादी होने के नाते समाज उन विचारों को पसन्द नहीं करता जो प्रगतिशील अथवा नवीन हैं, फिर भी असलियत को दबाना सम्भव नहीं है। मान लीजिए सरकार प्रजा पर कोई टैक्स लगाना चाहती है। इसकी सूचना पाते ही लोग टीका-टिप्पणी आरम्भ करते हैं। पत्र-पत्रिकाओं में नाना प्रकार के लेख और कार्टून निकाले जाते हैं। परन्तु जब टैक्स जारी कर दिया जाता है तो लोगों को इसे न देने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती। इसी प्रकार आज से कुछ शताब्दी पहले राजा की शक्ति की उपयोगिता तथा उसके प्रति

नागरिकों के सम्मान में हमें कोई सन्देह नहीं था। उसकी अकर्मण्यता अथवा जनता की विचारोन्नति के कारण जब राजनीतिक शक्ति औरों के हाथ में जाने लगी तो हममें से बहुतों को आश्चर्य हुआ। राजा के सम्मान की रक्षा का उन्होंने जो प्रश्न उठाया उसका हम सबने समर्थन किया और आज भी उनके साथ हैं; लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम निकम्मे और अनावश्यक व्यक्तियों को बन्दर के मरे हुए बच्चे की तरह साथ-साथ लिये रहें।

पहले अध्याय में इस बात पर विचार किया गया है कि राजसत्ता अब किसी एक के हाथ में नहीं रही। छोटे-छोटे सरकारी कर्मचारियों, संस्थाओं तथा संगठनों को यह शक्ति प्राप्त हुई है। राजसत्ता की व्यापकता पर विचार करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि हमारे चारों ओर जो संगठन दिखायी पड़ते हैं उनकी क्या उपयोगिता है। साथ ही हमें यह भी जानना होगा कि राजनीति में ऐसे परिवर्तन की क्या आवश्यकता होती है। इन दोनों प्रश्नों को शासक और शासित वर्ग के हित का ध्यान रखते हुए हल करना होगा।

पहला प्रश्न संगठनों की उपयोगिता है। मशीन-युग में संगठनों की उत्पत्ति अनिवार्य है। जब एक देश कई देशों के साथ अपना व्यापारिक अथवा अन्य सम्बन्ध स्थापित करेगा तो आवागमन की सुविधाओं तथा व्यापारिक उन्नति के लिए तरह-तरह के संगठन पैदा होंगे। विभिन्न कम्पनियों तथा बैंकों की उत्पत्ति इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। विदेशों में अपनी सभ्यता का प्रचार करने के लिए कितने ही देशवासी उत्सुक रहते हैं। इनका भी कोई न कोई संगठन बनेगा। ईसाई धर्म-प्रचारक एशिया, अफ्रिका आदि पूरबी देशों में इस प्रकार के कितने ही संगठन बनाकर अपना कार्य करते हैं। बड़ी-बड़ी मिलों में जहाँ हज़ारों मज़दूर और क्लार्क काम करेंगे, अपने हितों की रक्षा के लिए अलग-अलग संगठन बनावेंगे। मज़दूरों के संगठन लगभग सभी देशों में पाये जाते हैं और भी कर्मचारी छोटे पैमाने पर अपना संगठन बनाये हुए हैं। इनसे अपनी माँगों को पूरी कराने में उन्हें सहायता मिलती है। धारा-

सभाओं पर भी उनकी संगठित शक्ति का प्रभाव पड़ता है और प्रजा के प्रतिनिधि क़ानून बनाते समय उन वर्गों का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। अब तो कितने ही सगठन स्वतन्त्र रूप से अपना प्रतिनिधि धारा-सभाओं में भेजने लगे हैं। सरकार भी उनकी उपयोगिता को कम नहीं समझती।

बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियों में काम करने वाले मज़दूरों की रक्षा का ध्यान न रक्खा जाय तो पूँजीपति उनसे बेजा लाभ उठायेंगे, यह बात सर्वविदित और प्रमाणित है। फैक्ट्री क़ानून के पहले मज़दूरों से १२ और १५ घंटे रोज़ तक काम लिया जाता था। स्त्री, बच्चे और बूढ़े सभी कम से कम मज़दूरी पर रख लिये जाते थे। काम लेने के सिवाय पूँजीपति उनकी रहन-सहन का कुछ भी ध्यान नहीं रखते थे। जब उन्हें हर पहलू से धन इकट्ठा करने की हविस थी तो वे मानवता का ध्यान कैसे रख सकते? समाज-सेवियों का ध्यान जब मज़दूरवर्ग की कठिनाइयों की ओर आकर्षित हुआ तो पूँजीपतियों के कान खड़े हुए और मज़दूर-संगठन के सामने उन्हें झुकना पड़ा। उनकी माँग हर दृष्टि से उचित थी, इसलिए उन्हें रोकना सम्भव भी न था। कर्तव्य की प्रेरणा से सत्कर्म की पूर्ति होती है। बेचारे मज़दूर काफ़ी अरसे से अपनी गाढ़ी कमायी का समुचित उपयोग नहीं कर पा रहे थे; परन्तु जब उनका ध्यान इस ओर दिलाया गया तो उनमें शक्ति और जीवन का संचार हुआ। धीरे-धीरे वे अपने को उस कोटि पर लाने में समर्थ हुए जहाँ से उन्हें समाज और व्यक्ति का सामंजस्य किसी और तरह का दिखायी पड़ने लगा। तब उन्हें यह बात खटकने लगी कि एक व्यक्ति दूसरे से अनुचित लाभ क्यों उठाता है।

इसी तरह की विचार-धारा समाज के सभी वर्गों में प्रवेश करने लगी और अनुचित लाभ लोगों को काँटों की तरह खटकने लगा। यह आवाज़ चारों ओर से आने लगी कि 'रेलों, खानों, खेती तथा अन्य बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों को किसी व्यक्ति या कम्पनी के हाथ में न रख कर सरकार अपने अधिकार में कर ले।' इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए समाजवाद का जन्म हुआ।

कुछ राजनीतिज्ञों का मत है कि प्रजातन्त्रवाद के अन्दर समाजवाद की कोई आवश्यकता नहीं है। "प्रजातन्त्र राज्यपद्धति से होने वाला शासन-

कार्य अधिक भारी और अधिक उलझा हुआ होता है। उसे चलाने के लिए काफ़ी लोगों की आवश्यकता होती है। प्रजातन्त्र शासन के विभाग इतने अधिक होते हैं कि प्रजा अपने कर्तव्यों का पालन करते ऊब जाती है।" प्रजातन्त्र शासन का समालोचक लार्ड ब्राइस लिखता है, "यह राज्य-पद्धति बड़ी महँगी, व्यापक और उलझी हुई होने के कारण उतनी सफल नहीं हुई जितनी आशा की जाती थी।" इस प्रजातन्त्र में जब आगे चल कर समाजवाद आ मिलेगा तो यह तन्त्र कितना विशाल होगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। "प्रजातन्त्र अपना कार्य सँभालने में अभी पूर्ण रूप से समर्थ नहीं है। ऐसी हालत में समाजवाद भी यदि उसमें आ मिला तो बहुतों को यह आशंका है कि प्रजातन्त्र अपना काम सुचारुरूप से कैसे चला सकेगा।"

जो विद्वान् इस प्रकार की कल्पनाएँ करते हैं वे पैर में ज़ंजीर बाँध कर दुनिया की सैर करने वाला स्वप्न देखते हैं। एक ओर तो उनकी दृष्टि राजनीतिक अधिकारों के केन्द्रीकरण की ओर होती है और दूसरी ओर वे समाज में फैली हुई प्रजा के हित की बातें सोचते हैं। ये दोनों बातें एक साथ सम्भव नहीं हो सकतीं। जब तक वे राजसत्ता को एक व्यापक रूप नहीं देंगे तब तक प्रजातन्त्रवाद सचमुच भार सा प्रतीत होगा। फिर यह बात कुछ समझ में नहीं आती कि शासन के विभागों से घबड़ाने की क्या आवश्यकता है। जन-संख्या की वृद्धि के कारण जब एक ओर हम लोगों को उद्योग-धन्धों की तलाश करनी है तो विभिन्न विभाग जनता के हित में बाधक नहीं हो सकते।

किसी भारी लट्ठे को जब एक ही आदमी उठाना चाहता है तो उसका दम फूलना स्वाभाविक है। बहुत मुमकिन है वह अपनी अल्प शक्ति का विचार न कर लट्ठे की स्थिति में अपनी असफलता का कारण मान बैठे; परन्तु यदि निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो उसे इस तरह का प्रयत्न करने से पूर्व अपनी शक्ति पर विचार कर लेना चाहिए था। इसी प्रकार राज्य की सीमा काफ़ी बड़ी होती है। किसी-किसी की जन-संख्या तो करोड़ों की तादाद तक पहुँची हुई है। राज्य की व्यवस्था के लिए ही शासन-पद्धति का आयोजन

हुआ है। किसी भी प्रकार से यह सम्भव नहीं है कि केवल दो-चार व्यक्ति इतने बड़े कार्य को अपने ऊपर ले सकें। स्वार्थ-लाभ या अधिकार-पिपासा के कारण जो लोग ऐसा प्रयत्न करते हैं वे अपनी और शासन-पद्धति दोनों की हँसी उड़वाते हैं और देश के सामने एक बहुत बड़ा वैधानिक संकट उपस्थित करते हैं।

भौतिक साधनों की वृद्धि के कारण मानवीय आवश्यकताएँ दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ रही हैं। इनकी पूर्ति में जितनी भी बाधाएँ आती हैं वे सब समाज और व्यक्ति दोनों को उद्विग्न करती हैं। इसी से समाज और व्यक्तियों में विभिन्न विषमताएँ उत्पन्न होती हैं जिनके परिणाम स्वरूप समाज-सुधारकों को बहुत बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि समस्याओं को उत्पन्न होने से रोक दिया जाय तो सुधार और प्रतिकार की आवश्यकता जाती रहे। दवा मूल की होनी चाहिए, पत्ते-पत्ते में पानी देने से पेड़ हरा नहीं रहता। समाज की इन विषमताओं की उत्पत्ति के लिए राजनीतिक संगठन उत्तरदायी है। फिर लोग जब इन्हें गैर-सरकारी साधनों से हटाना चाहते हैं तो उनका प्रयत्न कहाँ तक सफल हो सकता है। यह प्रकट ही है। राजनीतिक परिस्थितियों से उत्पन्न हुई सामाजिक विषमताओं का उन्मूलन राजनीति कवियों द्वारा ही हो सकता है परन्तु जब यह सीधा मार्ग ग्रहण नहीं किया जाता तो सेवा और त्याग की बड़ी-बड़ी डींगें मारना आवश्यक हो जाता है। यदि किसी व्यक्ति को ऐसी दशा में रख दिया जाय कि उसे राजयक्ष्मा हो जाय और बाद में उसके लिए दवा आदि के प्रबन्ध को सेवा का अंग कहा जाय तो यह ढोंग नहीं तो क्या है?

वर्तमान समाज राजनीतिक उलझनों की कशमकश में पड़ा हुआ है। उसके सामने नाना प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। जब शरीर का खून ख़राब हो जाता है तो फोड़े फुन्सियों का निकलना स्वाभाविक है। ऊपर की मरहम-पट्टी तब तक काम नहीं कर सकती जब तक खून साफ़ नहीं हो जाता। इसलिए किसी देश की ग़रीबी, बेकारी, अकर्मण्यता अशिक्षा, सामाजिक दुष्कृति और यहाँ तक कि युद्ध आदि समस्याओं को सुलझाने के लिए

यह आवश्यक है कि उसके राजनीतिक संगठन पर नज़र डाली जाय। वर्तमान राजनीति धोखे की टट्टी बनायी गयी है, जिसकी आड़ में स्वार्थ और यश-प्राप्ति के खेल खेले जाते हैं। जो चीज़ें हमें ऊपर से ठोस और चमकती हुई मालूम पड़ती हैं वे भीतर से खोखली और धुँधली हैं। प्रजातन्त्रवाद की व्याख्या बड़े मोहक शब्दों में की जाती है; परन्तु उसका व्यावहारिक रूप कुछ और ही है। वहाँ तो प्रजावर्ग के नाम पर और प्रायः उन्हीं की अप्रत्यक्ष अनुमति से एक ऐसा अधिकारी वर्ग बन गया है जो इस प्रकार प्राप्त किये हुए अधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। समानता की आड़ में छोटे-बड़े का भेद उसे इतना प्रिय है कि अपने ही पड़ोसी से बराबरी का बर्ताव करने में वह अपना अपमान समझता है। लेकिन उसी को जब वोट माँगना पड़ता है अथवा किसी सभा में भाषण देने पड़ते हैं तो ग़रीबों के नाम पर आँसू बहाते ज़रा भी देर और हिचक नहीं होती। ऊपर से कोई भी व्यक्ति अधिकार के लिए लालायित नहीं दिखाई पड़ता, लेकिन संस्थाओं और संगठनों की सदस्यता के लिए पैसे को पानी की तरह बहाया जाता है। इन्हीं सब बातों को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि वर्तमान राजनीति शुद्ध और ठोस नहीं है। इसका कारण कुछ तो सरकार की नीति और कुछ कर्मचारियों का स्वार्थ है।

जहाँ तक सरकारी कर्मचारियों के स्वार्थ का प्रश्न है, वह एक तरह से अनिवार्य हो गया है। यह मानना होगा कि मनुष्य के विचारों पर उसके वातावरण का प्रभाव पड़ता है। समाज शास्त्र के अन्तर्गत 'वातावरण' एक व्यापक अर्थ रखता है। देश, मनुष्यों का सम्पर्क, उनका कार्यक्षेत्र तथा उनकी आवश्यकताओं का स्रोत आदि सभी वातावरण के अन्दर आ जाते हैं। हमारी प्रवृत्तियों का निर्माण और विकास इसी वातावरण के अन्दर होता है। यदि आधुनिक सरकारी कर्मचारी पदलोलुप और स्वार्थरत हैं तो इसका उत्तरदायित्व उस वातावरण पर है जिसने उन्हें विकसित किया है। सरकार की नीति यदि शुद्ध और लोककल्याणी होती तो ऐसी दूषित प्रवृत्ति के व्यक्तियों का अस्तित्व ही नहीं होता। सच्चे सुधारकों की कोटि में उन्हीं लोगों को

रक्खा जाता है जो वातावरण का निर्माण करते हैं। टैक्स को कम करा देना, किसी कर्मचारी को दंड दिलाना, अथवा धारा-सभा में कोई क़ानून पास करा लेना—ये कार्य बहुत ऊँची श्रेणी के नहीं गिने जाते। जो कर्मचारी अपने पद से ऊँची योग्यता और लोकहितकारिणी बुद्धि रखते हैं वे अपने क्षेत्र में एक ऐसा वातावरण तैयार करते हैं जिसका दूसरे लोग अनुकरण करने को बाध्य हैं। अपने आन्तरिक विचारों को वे अधिक से अधिक व्यापक रूप देकर औरों को अपना सरीखा बनाना चाहते हैं। परन्तु ऐसे लोग बहुत कम होते हैं। राजनीतिक कठिनाइयों से ऊबकर ऐसे प्राणी किसी अन्य क्षेत्र में अपनी बुद्धि और योग्यता का परिचय देने को बाध्य होते हैं। फिर वर्तमान राजनीति की यह भी एक समस्या है कि वह अपने अन्दर ऐसे शुद्ध विचारकों और महापुरुषों को उचित स्थान नहीं देती जिनका व्यापक दृष्टिकोण सामाजिक प्रश्नों को बहुत कुछ हल कर सकता है।

सामाजिक समस्याओं का श्रीगणेश सरकार की दूषित नीति से होता है। प्रजातन्त्रवाद के अन्दर यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। शक्ति के केन्द्रीकरण का परिणाम इतना भयंकर सिद्ध हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वृत्त में इस बीमारी का शिकार बन गया है। यदि राजसत्ता अपनी सदिच्छा से अपनी सम्पूर्ण शक्ति विभिन्न संस्थाओं को प्रदान कर देती तो व्यक्तिगत छीना-झपटी की नौबत न आती।

लोकहित की भावना से प्रेरित होकर कुछ व्यक्तियों द्वारा किसी संस्था का जन्म होता है। संगठन भी इसी उद्देश्य से बनाये जाते जाते हैं। लेकिन कार्य की सुविधा के लिए जब-जब अधिकारों की आवश्यकता हुई है, उस समय इन लोगों को अपने कार्य-साधन में इतनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है कि ऐसी संस्था के विकास में उसकी जद्दोजहद का एक अच्छा ख़ासा इतिहास बन गया है, पग-पग पर इन लोगों के रास्ते में अधिकारियों की ओर से रोड़े अटकाये गये हैं, दुरूह कठिनाइयाँ उपस्थित की गयी हैं और दुर्नीतिपूर्ण अनुचित व्यवहार तक किया गया है। ऐसी स्थिति में उनके लिए छोटे-छोटे सरकारी कर्मचारियों का मुँह ताकना आवश्यक हो जाता है। यही

कारण है कि ऐसी असमानता की खींचातानी में सन्तप्त, कुपित और अधीर होकर लोकहित और सुधार का मार्ग छोड़कर कितने ही संगठन संघर्ष का कारण बन जाते हैं।

छोटी से छोटी बात आज गुप्त नहीं रक्खी जा सकती। वैज्ञानिक साधन प्रत्येक व्यक्ति को यह अवसर प्रदान करते हैं कि वह औरों के समतुलन में हर स्थान पर खड़ा हो सके। समानता की इस भावना ने स्वतन्त्रता और न्याय की दुहाई देने के लिए प्रजातन्त्रवाद को जन्म दिया है। ऐसी दशा में जब सबके समान उपभोग के लिए सरकार द्वारा साधन प्रदान नहीं किये जा सकते तो असन्तोष और युद्ध नहीं हो तो और क्या होगा। इतना होने पर भी राजनीतिज्ञों की आँखें नहीं खुलतीं। वे अपने-अपने देशों की अर्थ-साधना के लिए कूटनीति का समर्थन करने में कोई कोर कसर बाकी नहीं रखते। यह मानना पड़ेगा कि जब तक राजसत्ता का समुचित वितरण नहीं किया जाता तब तक कोई व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं रह सकता। हर मनुष्य का यही विचार होता है कि राजसत्ता द्वारा प्राप्त अधिकारों, सुविधाओं और अवसरों के उपभोग में उसे उसकी योग्यता के अनुपात में हिस्सा मिले। प्राणीमात्र को अपनी बनायी हुई संस्थाओं से प्रेम होना स्वाभाविक है। और फिर जब उसकी नीयत में कोई सन्देह नहीं हो तो कोई वजह नहीं है कि उसके निर्माण किये हुए संगठन अधिकारों से विभूषित न किये जायँ।

प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगल ने सिद्ध किया है कि संस्थाएँ हमारे आन्तरिक विचारों की प्रतीक हैं। जब कोई हमारे विचारों का खंडन करता है तो हम जल्दी उससे हार नहीं मान लेते। अन्त समय तक हमारा प्रयत्न यही रहता है कि जो कुछ हम सोचते हैं वही ठीक है। लेकिन उन्हीं को क्रियात्मक रूप देते समय जब कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं तब हम यह मान लेने को बाध्य होते हैं कि हमारे विचार सुलझे हुए नहीं थे। संस्थाओं और संगठनों को इसीलिए शुद्ध विचारों का बाह्य रूप कहा गया है। जो इनकी वास्तविकता और उपयोगिता पर सन्देह करता है वह सही विचारों के महत्त्व को कम कर अपने प्रमाद को बड़ा बनाता है। पिछले ५० वर्षों के जिन

संस्थाओं और संगठनों का समाज में जन्म हुआ है उनकी बुरी तरह से अव-हेलना की गयी है। ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रान्स, रूस, हिन्दोस्तान आदि देशों के इतिहास इस बात के प्रमाण हैं। जनता ने जब-जब अपने विचारों की उत्प्रेरणा स्वरूप नयी व्यवस्था प्राप्त करने के लिए प्रदर्शन किया तो सरकार ने उसे आश्वासन दिलाया कि वह हर प्रकार से स्वतन्त्र, और समान अधिकारी है। परन्तु जब व्यवहार का प्रश्न आया तो मालूम हुआ कि वास्त-विकता तो कुछ और ही है। यदि दोनों पक्ष अपने-अपने रास्ते पर चले होते तो वर्तमान राजनीति की इतनी छीछालेदर न हुई होती। जहाँ तक जनता का प्रश्न है उसने ईमानदारी बरतने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रक्खी। शिक्षा-प्रचार के लिए स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय और गुरुकुलों को जन्म दिया गया; बड़े पैमाने पर चीजें उत्पन्न करने के लिए बड़ी-बड़ी मिलों और फैक्ट्रियों का निर्माण किया गया; विभिन्न वर्गों के हितों की रक्षा के लिए नाना प्रकार के संगठन बनाये गये। लेकिन शासन अपने वादे पर खरा न उतरा। उसने पग-पग पर जनता की सच्ची माँगों का विरोध किया और उसकी बनायी हुई संस्थाओं को तिरस्कार और शंका की दृष्टि से देखा। संगठन बनानेवालों को तरह-तरह की यातनाएँ दी गयीं और उन्हें ग़ैर-क़ानूनी तक घोषित कर दिया गया।

एक ओर तो जनता अधिकारों के वितरण की आशा करती और दूसरी ओर सरकार का दमन चक्र चलता है। इसी चक्की में पड़कर प्रजातन्त्रवाद इतना पिस गया है कि उसके कण बालू के कण से भी अधिक क्षीण हो गये हैं। ऐसी परिस्थिति में तानाशाही की उन्नति को रोकने में यदि वह असमर्थ हो तो उसमें उसका कोई दोष नहीं है। यदि जनता सन्तुष्ट रहती और स्वतन्त्र विचारधारा में बहती हुई स्वनिर्मित संगठनों को फलते-फूलते देखती तो संसार का बड़ा से बड़ा 'वाद' उसे आकर्षित न करता। जो संगठन आज समाज में दिखायी पड़ते हैं उनके निर्माण में सैकड़ों विचारकों का हाथ रहा है। शासन को चाहिए था कि उन्हें अधिकाररूपी शस्त्र देकर कर्तव्यपालन के लिए इतना तैयार कर देता कि वे लोकहित-भावना से विचलित न हों। बड़े से बड़े कर्म-

चारी को इस बात की आशा न रहती कि वह उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई कर सकता। इसी को लोकमत का सम्मान और प्रजातन्त्र का मूल्यांकन कहते हैं। केवल मताधिकार और सरकारी नौकरियाँ प्रदान करना सम्मान के सूचक नहीं हैं। कोई धनवान् व्यक्ति चार पैसे देकर त्यागी होने का दावा पेश नहीं कर सकता। इससे तो लोग उसकी हँसी उड़ायेंगे। यही दशा प्रजातन्त्रवाद की है। छोटे-मोटे अधिकारों के प्रलोभन से जनता सन्तुष्ट नहीं की जा सकती। सरकार को चाहिए कि वह अपनी पूर्ण सत्ता को प्रजा की वस्तु समझ कर उसकी बनाई हुई संस्थाओं और संगठनों को बांट दे। शान्ति स्थापित करने का यही सबसे महान् साधन है। परन्तु राजनीतिज्ञों ने इस पर पूरा-पूरा ध्यान नहीं दिया है।

संगठन निराधार नहीं बनाये जाते। उनके पीछे एक प्रबल भावना होती है। फिर जनता उनसे इतनी प्रेरित होती है कि उसे अपने वृत्त के अन्दर रखने में कठिनाई पड़ती है। यह भावना काफ़ी अरसे तक इसलिए दबी रहती है क्योंकि इसका उचित कर्णधार नहीं मिलता। ज्योंही एक योग्य व्यक्ति इसका नेतृत्व स्वीकार कर लेता है कि फिर नदी की बाढ़ के समान संगठन का विशाल वृत्त बढ़ कर तैयार हो जाता है। उसकी छत्रछाया में आना गौरव की बात समझी जाती है। उसके सदस्यों को कठिनाइयों और यातनाओं की कोई परवा नहीं रहती। प्रत्येक उन्नतिशील देश में इस तरह की भावनाओं का जन्म हुआ है और लोगों को इन महान् कठिनाइयों को सामना करना पड़ा है। यह सारी कठिनाइयाँ इसलिए उपस्थित होती हैं कि जनता तो आगे बढ़ जाती है, परन्तु शासन-विधान जहाँ का तहाँ स्थिर रहता है। उसे अपनी गति और शक्ति का इतना अभिमान होता है कि वह नवीन वातावरण से चिन्तित नहीं होता। इसी लिए संघर्ष आरम्भ होता है और कर्तव्य पालन को छोड़ कर अधिकार वितरण के प्रश्न पर लड़ाई छिड़ जाती है। अतएव राजनीति को शुद्ध और सुचारुरूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि अधिकार को गौण मान कर कर्तव्य पर ही ज़ोर दिया जाय।

यह बात निर्विवाद है कि हर राजनीतिक संघर्ष की तह में राजसत्ता के

वितरण का प्रश्न मौजूद है। जब तक नीचे से ऊपर तक राजकीय शक्तियाँ सारी संस्थाओं और संगठनों में बाँट नहीं दी जातीं तब तक सामाजिक शान्ति एक स्वप्न ही कही जायगी। यह एक छोटी सी बात है कि हमें जिस वस्तु से लाभ होगा उसके संरक्षण की चिन्ता करेंगे। केन्द्रीय धारा-सभाओं, कचहरियों, जेलों तथा अस्पतालों में क्या हो रहा है इसकी हमें उतनी परवा नहीं होनी चाहिए जितनी ग्राम-पंचायतों, मन्दिरों, स्कूलों तथा कारखानों की। कारण यह है कि इन्हीं पर हमारे बच्चों की शिक्षा, जीविका और हमारी शान्ति निर्भर है। इन संस्थाओं की रक्षा के लिए हम हर प्रकार का प्रयत्न करने को तैयार हैं। जो कोई इनकी निन्दा करेगा अथवा इनके कार्य में हस्तक्षेप करेगा उसे हम अपना शत्रु समझेंगे। इनकी अवहेलना से हमें दो प्रकार से कष्ट पहुँचता है। एक तो हमारे स्वार्थ में धक्का लगता है और दूसरे हमारे सम्मान पर आघात पहुँचता है। बड़ी से बड़ी शक्ति इनका विरोध करने पर हमारी आँख की किरकिरी बन जाती है। इस खींचातानी में जनता भीतर से इतनी उद्विग्न हो जाती है कि उसे क्रान्ति का आश्रय लेना पड़ता है। जनता को यह सह्य हो सकता है कि सरकार सामाजिक सेवाओं में कमी कर दे, टैक्स की मात्रा बढ़ा दे, और अपराधियों को कड़े से कड़ा दंड दे, परन्तु लोकमत-प्रतीक संगठनों को न ठुकराये। यह ठीक है कि किसी को बाध्य कर दानी और त्यागी नहीं बनाया जा सकता। त्याग वही फलदायक होता है जो अपनी अन्तरात्मा की पुकार पर सम्पादित किया जाता है। इसलिए यह प्रश्न उठ सकता है कि सरकार को अधिकारों के वितरण के लिए क्योंकर बाध्य किया जाय। व्यक्तिगत और सार्वजनिक वस्तुओं का स्वभाव एक-सा नहीं होता। सरकार एक सार्वजनिक संस्था है और उसकी शक्ति जन प्रदत्त है। इसलिए योग्यता प्राप्त कर लेने पर यदि जनता सरकार से अधिकार माँगती है तो उसमें त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। उसे तो कर्तव्य का एक अंग कहा जा सकता है।

संस्थाओं और संगठनों की माँगें अप्रयत्यक्ष रूप से जनता की माँगें हैं। प्रजातन्त्रवादी सरकार किसी भी युक्ति से इनसे इनकार नहीं कर सकती। अपने प्राचीन गौरव के मद में प्रायः वह इसे सहन नहीं कर सकती कि सदियों

की सम्पादित-शक्ति उसके हाथ से निकल जायगी। वह अपने कर्मचारियों के एक दल का आश्रय लेकर बलपूर्वक जनता के आन्दोलन का दमन करती है। अपने सभी कार्यों को वैधानिक कहना उसके लिए सरल है। अख़बार आवागमन के साधन, धन—ये सभी सुविधाएँ उसे प्राप्त हैं। अपने सभी कार्यों को शान्ति और रक्षा की आड़ में वह वैधानिक बना सकती है। परन्तु न्याय की कसौटी पर वह प्रजातन्त्रवादी नहीं कहला सकती। सच्चा प्रजातन्त्रवाद मताधिकार और प्रतिनिधित्व पर ही निर्भर नहीं है। जब तक सरकार प्रजा की वस्तु नहीं बन जाती और अपनी शक्ति को संस्थाओं और संगठनों में विभाजित नहीं कर देती तब तक वह लोकप्रिय नहीं बन सकती। इसी लिए प्रजातन्त्र की भावना सभी युगों में एक होते हुए भी जनता की विचार-धारा के अनुसार विभिन्न श्रेणियों की हो सकती है। जो समाज जितना ही उन्नत है वह उसी कोटि की स्वतन्त्रता पसन्द करेगा। उनके अधिकारों की माँग का स्टैंडर्ड एक-सा नहीं हो सकता। जिस समाजवाद की कल्पना बीसवीं सदी के आरम्भ में की गयी थी वह इस शताब्दी के अन्त में अपूर्ण सिद्ध हो सकती है। जो 'वाद' समाज की उन्नति अवनति के साथ जुड़ा हुआ है उसकी परिभाषा भी उसी समाज की दशा के अनुकूल होगी।

प्रजातन्त्रवाद कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जो प्रत्येक समाज में एक ही अर्थ रखता हो। किसी पिछड़े हुए देश में प्रजा की भलाई का सबसे बड़ा साधन एक सुयोग्य और स्वार्थहीन नेता है। वह चाहे तो हर तरह से जनता को उन्नत और सन्तुष्ट कर सकता है। कुछ समय बाद जब लोगों का रहन-सहन एक विशेष अवस्था को पार कर जायेगी तो उसका प्रजातन्त्र किसी और प्रकार का होगा। जीवन की उन्नति के जो साधन उन्हें मालूम न थे उनकी प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र अधिकारों की माँग पेश की जायगी। इस प्रकार समाज ज्यों-ज्यों उन्नति करता जायगा, प्रजातन्त्र का स्वरूप भी बदलता जायगा। समाजवाद को प्रजातन्त्रवाद के साथ जोड़ने में राजनीतिज्ञों को आज अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि समाजवाद, प्रजातन्त्रवाद से भिन्न कोई अलग वस्तु नहीं है। इनमें जो अन्तर दिखायी पड़ता

हैं वह सामाजिक प्रगति की विषमताओं के कारण है । जब अधिकारों में समानता हो सकती है तो आर्थिक समानता में आश्चर्य का कोई कारण नहीं है। सम्भव है किसी दिन इस बात की भी माँग पेश की जाय कि सरकार सबको समान रूप से कालेजों और विश्वविद्यालयों में पढ़ने का अवसर दे और उन पर किसी प्रकार का आर्थिक प्रतिबन्ध न लगाया जाय। प्रजातन्त्रवाद की कठिनाइयों को देखते हुए संसार की शान्ति सचमुच एक स्वप्न है। प्रजा अपने अधिकारों की माँग हर समय करती रहेगी। सरकार अपनी शक्ति को बाँटने पर हर समय तैयार नहीं होगी। ऐसी दशा में अनादिकाल तक संघर्ष की कल्पना झूठी नहीं हो सकती। इसके उदाहरण इतिहास के पन्ने-पन्ने में मौजूद हैं।

विश्व शान्ति की कल्पना कर्तव्य के आधार पर हो सकती है। राजकीय शक्ति-विभिन्न संस्थाओं में विभाजित कर दी जाय, प्रत्येक का कार्यक्षेत्र नियत हो और उसके अन्दर कर्तव्यपूर्ति का जब प्रश्न उठे तो सरकार उस संस्था का ध्यान उस ओर आकर्षित कर दे। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्रवाद के अन्तर्गत सरकार का और कोई स्थान नहीं है। प्रजा की बनायी हुई संस्थाएँ और उसके निमित संगठन उसके हितों की रक्षा के लिए होते हैं। एक समय था जब राजनीतिक संस्थाओं और संगठनों द्वारा शक्ति केन्द्रित करने की कल्पना की गयी थी। उस समय लोगों के ध्यान में इस केन्द्री करण के अतिरिक्त कोई और संगठन नहीं था। लेकिन जनवर्ग को सोचने-समझने की स्वतन्त्रता तो सदा ही प्राप्त है। यद्यपि राजनीतिक संगठन जनवर्ग पर बराबर शासन करता रहा है; वह अपने हित-वृद्धि की बात तो निरन्तर सोचती रही है। इसी बीच स्वाभाविक रूप से तरह-तरह के संगठन बनते गये, अनेक संस्थाएँ स्थापित होती गयीं; यहाँ तक कि वर्तमान समय में इनकी संख्या इतनी बढ़ गयी है कि राजनीतिक संगठन इनके सामने अकेला, बहुत छोटा और निर्बल सिद्ध हो रहा है। अब लोगों को उस पुराने संगठन की उतनी आवश्यकता नहीं जान पड़ती जितनी कि नवीन संगठनों की। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राज-

नीतिक संगठन बेकार है। इसकी उपयोगिता अवश्य है, परन्तु इसके कर्तव्य विभिन्न युगों में बदलते रहे हैं। यदि वह एक ही नीति का अनुसरण करती रहती तो सचमुच बेकार और दुखदायी हो जाती। क्योंकि जब लड़के सयाने हो जाते हैं और उनमें उत्तरदायित्व का भाव पैदा हो जाता है तो पिता के लिए अपने कतिपय अधिकारों को उनमें बाँट देना ही उचित होता है। इसी प्रकार सरकार को भी इस बीसवीं सदी में अपने अधिकारों का मोह नहीं होना चाहिए।

सरकार कितना भी प्रयत्न करे, अधिकारों का वितरण अनिवार्य है। क्योंकि इसके बिना जनवर्ग को अपनी वे सारी कल्पनाएँ अभी अधूरी मालूम हो रही हैं जिनका आश्रय लेकर वह अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। प्रतिवर्ष हर देश में कोई न कोई ऐसा संगठन बन रहा है जो कुछ ही दिनों में काफ़ी व्यापक रूप धारण कर लेता है। पत्र-पत्रिकाओं में और सामाजिकता तथा राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसकी चर्चा इतनी अधिक होती है कि सरकार को भी उसका महत्त्व स्वीकार करना पड़ता है। धीरे-धीरे ये संगठन इतने मज़बूत होते जा रहे हैं कि इनको तोड़ना कोई हँसी-खेल नहीं है। इनकी उपयोगिता भी क्रमशः बढ़ती जा रही है। जनता से इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध तो होता ही है फिर प्रत्येक दशा में यह लोकमत के सहयोगी भी होते हैं। कर्तव्य पालन की भावना से प्रेरित होकर इनका कार्य-क्षेत्र बढ़ता जाता है और कुछ ही दिनों में सरकार को इनकी उपयोगिता स्वीकार करनी पड़ती है। तब धीरे-धीरे इनके अधिकार बढ़ने लगते हैं और उसी मात्रा में राजसत्ता की केन्द्रीय व्यवस्था कमज़ोर होने लगती है। इसी लिए कहा जाता है कि राज-सत्ता अब किसी व्यक्ति या संगठन की संचित शक्ति नहीं रह गयी है। उसका वितरण अनेक संगठनों और संस्थाओं में होता जा रहा है। सच्चे प्रजातन्त्रवाद का यह एक और शुभ लक्षण है।

तीसरा अध्याय

राष्ट्रीयता से लोकप्रियता

समय के अनुसार चीज़ों का मोल घटता-बढ़ता रहता है। विचार एक वस्तु है। उसकी भी क़ीमत कम और अधिक होती रहती है; यहाँ तक कि एक ही विचार जो एक जगह सम्मान पाता है दूसरी जगह उसी समय तुच्छ और घृणित समझा जा सकता है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि एक ही समय में किसी देश में यथेष्ट धार्मिक स्वतन्त्रता थी और किसी में धर्म की स्वतन्त्रता चाहने वालों को तलवार के घाट उतारा जाता था, लोग ज़िन्दे आग में झोंक दिये जाते और मछली की तरह तड़प-तड़प कर मर जाते थे। जिस सोलहवीं सदी के मुग़ल-काल में हिन्दुस्तान के लोग हर तरह की आज़ादी महसूस कर रहे थे, और राजा-प्रजा में विभिन्न धर्मों और विभिन्न जातीय होते हुए भी एक प्रकार का सहयोग और सहानुभूति थी, उसी सदी के ट्यूडर काल में इंग्लैंड में लोग ऐसी स्वतन्त्रता और सहिष्णुता के लिए तड़प रहे थे। वहाँ राजा-प्रजा के बीच लड़ाई के घनघोर बादल मँडरा रहे थे। इसका फल यह हुआ कि कुछ ही वर्ष बाद वहाँ घरेलू युद्ध आरम्भ हुए बिना नहीं रुक सका। इसी तरह जिस समय यूनान की सभ्यता उन्नति के शिखर पर पहुँच चुकी थी, उस समय दुनिया का एक बहुत बड़ा भाग जंगली अवस्था में था, उसे सभ्यता का नाम भी मालूम न था।

संसार में ऐसी हज़ारों घटनाएँ रोज़ हो रही हैं जो एक दूसरे से मेल नहीं खातीं। जब एक ओर लोग किसी विवाह और दावत की ख़ुशी में चूर होते हैं, तो दूसरी ओर कुछ लोग अपने भाई-बन्धुओं को मुर्दा-घाट की ओर ले जाते दिखायी पड़ते हैं और जब वे चुपचाप दाह-क्रिया करके घर को लौटे आते हैं तो उनकी आत्मा दुखी होती है। जब एक ही समय में घटनाओं में इतनी विषमता है, तो दो युगों के विचारों के अन्तर पर हमें आश्चर्य करने की कहाँ गुंजाइश रह जाती है। किसी युग में धर्म को प्रधानता दी गयी थी।

उसके एक निश्चित रूप को सबको मानना पड़ता था। राजनीति भी उसके विरुद्ध न चल पाती थी। जो ऐसा नहीं करते उन्हें धर्मद्रोही समझ कर दंड दिया जाता था। लगभग हर देश के इतिहास में ऐसा समय आ चुका है। पर आज बीसवीं सदी में राष्ट्रीयता की ही तूती बोलती है और धर्म का स्थान गौण होकर उसे राजनीति ने ले लिया है। जिस देश के हाथ में अधिक अन्य देशों की राज्यसत्ता है, वह सब से बलवान् समझा जाता है। इसी प्रकार देश में जो दल राजनीति में अपना बहुमत रखता है शासन में उसी की बात मानी जाती है और उसी के हाथ में सरकार की बागडोर होती है। राष्ट्रीयता बीसवीं सदी का धर्म है। जिस देश में इसका अभाव है वह जंगली, असभ्य तथा पिछड़ा हुआ समझा जाता है। संसार के 'सभ्य' देशों में से कोई उसे हथिया ले सकता है या ऐसे कई देश मिल कर उसे बाँट ले सकते या बाँट लेना चाहते हैं। हिन्दुस्तान, चीन, अफ्रिका तथा और भी छोटे-मोटे देश इसी प्रकार के विजित तथा आश्रित देश बने हुए हैं।

अब हमको इस बात पर विचार करना है कि धर्म की शक्ति राजनीति में क्यों कर आ गयी। धर्म एक गम्भीर विषय है। इसमें आत्मा-परमात्मा, मुक्ति-भुक्ति, जन्म-मरण, स्वर्ग-नर्क और कर्मयोग आदि गूढ़ विषयों पर विचार किया जाता है। लोग इसलिए धर्म पर श्रद्धा रखते हैं कि उन्हें ईश्वर की प्राप्ति होगी, स्वर्ग मिलेगा और लोक तथा परलोक दोनों में उनकी सुगति होगी और वे आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जायँगे। जब तक हृदय से लोग इन बातों में विश्वास करते रहे, तब तक धर्म का स्थान अत्यन्त ऊँचा रहा। संसार की और शक्तियाँ उसके सामने बहुत छोटी जँचीं। लेकिन कुछ समय बाद लोगों की श्रद्धा धर्म पर से कम होने लगी। स्वर्ग की निर्मूल या बिना मूल्य की कल्पनाओं से सांसारिक जीवन उन्हें कहीं अधिक सुन्दर दिखाई देने लगा। फिर क्या था, धर्म एक दिखावे की चीज़ रह गयी। ऊपरी वेश-भूषा तो अवश्य धार्मिक रही, परन्तु भीतर से धर्म एक बन्धन मालूम पड़ने लगा। लोग संसार के प्रलोभनों में लिप्त होते गये। जब तक उनकी दुनिया स्वर्ग में थी, तब तक तो धर्म उन्हें सँभाले रहा, लेकिन जब इस संसार

को ही उन्होंने सुख और दुख दोनों का स्थान समझ लिया, तब एक दूसरी शक्ति की उन्हें आवश्यकता पड़ी। अब उन्हें किसी ऐसी संसारिक शक्ति की आवश्यकता थी जो सब को एक सूत्र में बाँध कर रखती। यही शक्ति कालान्तर में राजनीति हुई। परलोक से सर्वथा इस लोक में आकर मनुष्य ने धार्मिक बन्धन को हटाया और राजनीतिक बन्धन ग्रहण कर लिया। इससे धर्म के स्थान पर राजनीति का महत्त्व बढ़ने लगा और लोग धीरे-धीरे भौतिक विचारवादी होते गये।

वैसे तो प्राणी मात्र सोचने-विचारने तथा सब कुछ करने के लिए स्वतन्त्र है, परन्तु समाज की दृष्टि में उसे भले-बुरे का ज्ञान होना चाहिए। मनुष्य-समाज इसके बिना चल ही नहीं सकता। यदि प्रत्येक मनुष्य भले-बुरे का ज्ञान प्राप्त कर ले, और एक दूसरे की उन्नति में बाधा न डाले, तो उसकी स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता। साधु, सन्यासी, फ़क़ीर, पादरी निहायत संयम का जीवन व्यतीत करते हैं। अपनी उन्नति के साथ-साथ वे समाज-हित का भी ध्यान रखते हैं। कोई भी कार्य उनसे ऐसा नहीं होता जिससे किसी को कष्ट पहुँचे। इसी लिए वे हर तरह स्वतन्त्र हैं। उनके लिए सामाजिक और राजनीतिक किसी भी विशेष बन्धन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु समाज में सब से बड़ी संख्या तो उस वर्ग की है जो साधारण जीवन व्यतीत करता है। उसे ठीक मार्ग पर रखने के लिए किसी न किसी बन्धन का रहना अनिवार्य है। जब तक लोगों का ध्यान स्वर्ग और ईश्वर की ओर रहा तब तक धर्म उनके लिये ऐसे बन्धन के रूप में था। परन्तु लौकिक जीवन में बन्धन भी लौकिक होना चाहिए। यह मान कर जैसे-जैसे लौकिक जीवन बढ़ता जा रहा है उसी अनुपात से लोग सांसारिक वस्तुओं के ग़ुलाम होते जा रहे हैं और राजनीतिक बन्धन का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इसी से आजकल की राष्ट्रीयता राजनीतिक शक्ति की परिचायिका हो गयी है।

अब किसी भी देश की उन्नति राष्ट्रीयता के बिना सम्भव नहीं है। पर आज जो देश राष्ट्रवादी हैं उनमें से अधिकांश साम्राज्यवादी भी हैं। वे मानते हैं कि राष्ट्रीयता एक ऐसी शक्ति है जो उनके देशवासियों को पूर्ण

'उन्नति' का पाठ पढ़ाती है। 'उन्नति' शब्द बहुत व्यापक है। इसमें आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक, मानसिक शारीरिक तथा धार्मिक सभी तरह की उन्नति शामिल है। यदि राष्ट्रीयता से ये सभी प्रकार की उन्नतियाँ वास्तव में हो सकती हैं, तब तो यह मान लेना होगा कि 'राष्ट्रीयता' उन्नति का ही पर्याय है। परन्तु राजनीति का कोई भी विद्वान् इसे मानने के लिए तैयार न होगा। राष्ट्रीयता राजनीतिक उन्नति का सूचक है। जो देश राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र और उन्नतिशील है, वहाँ 'राष्ट्र' कहलाता है। अधिकतर ऐसे ही देश राष्ट्रवादी हैं। पर हो सकता है कि आर्थिक दृष्टि से एक ऐसा देश स्वयम् ग़रीब हो, आध्यात्मिक विकास में पीछे हो, अथवा ज्ञान के क्षेत्र में वहाँ शिक्षा की काफ़ी कमी हो। इतनी न्यूनताओं के होते हुए भी यदि वहाँ की सरकार सुसंगठित है और उसका सिक्का दो चार और देशों पर जमा हुआ है, तो वह पहले दर्जे का राष्ट्र गिना जायगा।

कुछ लोग राष्ट्रीयता को आदर्श से जोड़ देते हैं। जिस प्रकार धनी मनुष्यों में कुछ लोगों को अच्छाइयाँ ही दिखायी पड़ती हैं, और अपनी बुद्धि जैसे सब को ठीक मालूम पड़ती है, उसी तरह हर राष्ट्रवादी को लोग आदर्श-वादी भी मानने लगे हैं। ब्रिटेन एक उन्नतिशील राष्ट्र माना जाता है; उसके पास ५० करोड़ जनसंख्या का एक साम्राज्य है। इसी शक्ति को देख कर लोग अकसर कह बैठते हैं कि अँगरेज़ बहादुर और बात के पक्के होते हैं; कठिन से कठिन परिस्थिति में घबड़ाना नहीं जानते। उनकी रहन-सहन तथा वेश-भूषा की भी प्रशंसा की जाती है। अंगरेज़ी जाति की कई बातों में जितनी भी प्रशंसा की जाय सब ठीक है लेकिन कोई भी निष्पक्ष अंगरेज़ यह स्वीकार करेगा कि उनमें भी नाना प्रकार की दुर्बलताएं हैं। राजनीतिक उन्नति को देख कर हम उस देश पर इतने लट्टू हैं कि उसकी सारी दुर्बलताओं पर परदा डाल देते हैं। इसलिए बीसवीं सदी की राष्ट्रीयता मनुष्य के जीवन से उतना सम्बन्ध नहीं रखती, जितना उसके देश की राजनीति से। राजनीतिक उन्नति को ही अज्ञानवश राष्ट्रीय उन्नति मान लिया जाता है।

इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है, जो हमें देशवासियों

को ही उन्होंने सुख और दुख दोनों का स्थान समझ लिया, तब एक दूसरी शक्ति की उन्हें आवश्यकता पड़ी। अब उन्हें किसी ऐसी संसारिक शक्ति की आवश्यकता थी जो सब को एक सूत्र में बाँध कर रखती। यही शक्ति कालान्तर में राजनीति हुई। परलोक से सर्वथा इस लोक में आकर मनुष्य ने धार्मिक बन्धन को हटाया और राजनीतिक बन्धन ग्रहण कर लिया। इससे धर्म के स्थान पर राजनीति का महत्त्व बढ़ने लगा और लोग धीरे-धीरे भौतिक विचारवादी होते गये।

वैसे तो प्राणी मात्र सोचने-विचारने तथा सब कुछ करने के लिए स्वतन्त्र हैं, परन्तु समाज की दृष्टि में उसे भले-बुरे का ज्ञान होना चाहिए। मनुष्य-समाज इसके बिना चल ही नहीं सकता। यदि प्रत्येक मनुष्य भले-बुरे का ज्ञान प्राप्त कर ले, और एक दूसरे की उन्नति में बाधा न डाले, तो उसकी स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता। साधु, सन्यासी, फ़क़ीर, पादरी निहायत संयम का जीवन व्यतीत करते हैं। अपनी उन्नति के साथ-साथ वे समाज-हित का भी ध्यान रखते हैं। कोई भी कार्य उनसे ऐसा नहीं होता जिससे किसी को कष्ट पहुँचे। इसी लिए वे हर तरह स्वतन्त्र हैं। उनके लिए सामाजिक और राजनीतिक किसी भी विशेष बन्धन की आवश्यकता नहीं है। परन्तु समाज में सब से बड़ी संख्या तो उस वर्ग की है जो साधारण जीवन व्यतीत करता है। उसे ठीक मार्ग पर रखने के लिए किसी न किसी बन्धन का रहना अनिवार्य है। जब तक लोगों का ध्यान स्वर्ग और ईश्वर की ओर रहा तब तक धर्म उनके लिये ऐसे बन्धन के रूप में था। परन्तु लौकिक जीवन में बन्धन भी लौकिक होना चाहिए। यह मान कर जैसे-जैसे लौकिक जीवन बढ़ता जा रहा है उसी अनुपात से लोग सांसारिक वस्तुओं के ग़ुलाम होते जा रहे हैं और राजनीतिक बन्धन का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इसी से आजकल की राष्ट्रीयता राजनीतिक शक्ति की परिचायिका हो गयी है।

अब किसी भी देश की उन्नति राष्ट्रीयता के बिना सम्भव नहीं है। पर आज जो देश राष्ट्रवादी हैं उनमें से अधिकांश साम्राज्यवादी भी हैं। वे मानते हैं कि राष्ट्रीयता एक ऐसी शक्ति है जो उनके देशवासियों को पूर्ण

'उन्नति' का पाठ पढ़ाती है। 'उन्नति' शब्द बहुत व्यापक है। इसमें आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक, मानसिक शारीरिक तथा धार्मिक सभी तरह की उन्नति शामिल है। यदि राष्ट्रीयता से ये सभी प्रकार की उन्नतियाँ वास्तव में हो सकती हैं, तब तो यह मान लेना होगा कि 'राष्ट्रीयता' उन्नति का ही पर्याय है। परन्तु राजनीति का कोई भी विद्वान् इसे मानने के लिए तैयार न होगा। राष्ट्रीयता राजनीतिक उन्नति का सूचक है। जो देश राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र और उन्नतिशील है, वहाँ 'राष्ट्र' कहलाता है। अधिकतर ऐसे ही देश राष्ट्रवादी हैं। पर हो सकता है कि आर्थिक दृष्टि से एक ऐसा देश स्वयम् ग़रीब हो, आध्यात्मिक विकास में पीछे हो, अथवा ज्ञान के क्षेत्र में वहाँ शिक्षा की काफ़ी कमी हो। इतनी न्यूनताओं के होते हुए भी यदि वहाँ की सरकार सुसंगठित है और उसका सिक्का दो चार और देशों पर जमा हुआ है, तो वह पहले दर्जे का राष्ट्र गिना जायगा।

कुछ लोग राष्ट्रीयता को आदर्श से जोड़ देते हैं। जिस प्रकार धनी मनुष्यों में कुछ लोगों को अच्छाइयाँ ही दिखायी पड़ती हैं, और अपनी बुद्धि जैसे सब को ठीक मालूम पड़ती है, उसी तरह हर राष्ट्रवादी को लोग आदर्श-वादी भी मानने लगे हैं। ब्रिटेन एक उन्नतिशील राष्ट्र माना जाता है; उसके पास ५० करोड़ जनसंख्या का एक साम्राज्य है। इसी शक्ति को देख कर लोग अकसर कह बैठते हैं कि अँगरेज़ बहादुर और बात के पक्के होते हैं; कठिन से कठिन परिस्थिति में घबड़ाना नहीं जानते। उनकी रहन-सहन तथा वेश-भूषा की भी प्रशंसा की जाती है। अंगरेज़ी जाति की कई बातों में जितनी भी प्रशंसा की जाय सब ठीक है लेकिन कोई भी निष्पक्ष अंगरेज़ यह स्वीकार करेगा कि उनमें भी नाना प्रकार की दुर्बलताएं हैं। राजनीतिक उन्नति को देख कर हम उस देश पर इतने लट्टू हैं कि उसकी सारी दुर्बलताओं पर परदा डाल देते हैं। इसलिए बीसवीं सदी की राष्ट्रीयता मनुष्य के जीवन से उतना सम्बन्ध नहीं रखती, जितना उसके देश की राजनीति से। राजनीतिक उन्नति को ही अज्ञानवश राष्ट्रीय उन्नति मान लिया जाता है।

इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है, जो सभी देशवासियों

में राजनीतिक उन्नति के लिए पैदा होती है। पर चूंकि कई प्रकार की छोटी-मोटी उन्नतियों के बिना राजनीतिक उन्नति नहीं हो सकती, इसलिए राष्ट्रीयता के अन्दर लगभग सभी तरह की उन्नति शामिल कर ली जाती है। ग़रीब राष्ट्र दुखी राष्ट्र, अशिक्षित राष्ट्र बलहीन राष्ट्र आदि तरह-तरह के राष्ट्र सुने जाते हैं, परन्तु 'परतन्त्र राष्ट्र' कहीं भी नहीं सुना जाता। जो देश परतन्त्र है वह राष्ट्र नहीं कहला सकता। दोनों शब्द एक दूसरे के विरोधी हैं। न शीतल आग हो सकती है और न गरम बरफ़! राजनीतिक उन्नति को अलग कर हम राष्ट्रीयता पर विचार नहीं कर सकते। राष्ट्रीयता राजनीति का एक पारिभाषिक शब्द है। राज्य की एक विशेष अवस्था को, चाहे वह किसी भी नीति से पैदा हुई हो, राष्ट्र कहते हैं।

राष्ट्रीयता बीसवीं सदी का धर्म या उसका सर्वस्व है। किसी युग में ज्ञान की महत्ता थी। जो ज्ञानी होता था, समाज में उसका आदर था। ज्ञानी के बताये हुए रास्ते पर चलने में लोग अपना गौरव समझते थे। एक युग केवल 'बल' का भी था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त चलता रहा। वर्तमान युग राष्ट्रीयता का युग है। इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी युग में पिछले सिद्धान्तों का लोप नहीं हो जाता इस युग में भी ज्ञान और बल का महत्त्व कम नहीं है। उन्नतिशील राष्ट्रों के पास ये दोनों शक्तियाँ मौजूद हैं। इतना अवश्य है कि इनका सदुपयोग मनुष्य के कल्याण के लिए नहीं हो पाता। जिस किसी देश को आज ये तीनों शक्तियाँ—ज्ञान, बल और स्वतन्त्रता—मिल जाती हैं, उसकी उन्नति सर्वोन्मुखी होने से वह आगे बढ़ने लगता है और कुछ ही दिनों में युद्ध का कारण बन जाता है, क्योंकि अन्य राष्ट्र उससे द्वेष करने लगते हैं। इस तरह एक की उन्नति बहुतों की अवनति का कारण बन जाती है।

इस दृष्टिकोण से राष्ट्रीयता एक प्रकार का पाशविक बल है। इसका उद्देश्य दूसरे देशों को, चाहे वे आध्यात्मिक रूप से कितने भी सभ्य और उन्नत क्यों न हों, लूटना और कमज़ोर बनाना है। यदि इन राष्ट्रवादी देशों का उद्देश्य ऐसा न होता, तो इन्हें आपस में लड़ने की आवश्यकता ही क्या थी? इस

लिए सिद्धान्तरूपेण राष्ट्रीयता चाहे जितनी भी ऊँची चीज़ हो; परन्तु कार्य-रूप में वह एक ऐसा ज़हर है जो सभी देशवासियों को पागल बना देता है। वे अपनी सभ्यता, अपने विचार, अपने बल तथा अपनी बुद्धि पर इतना गर्व करने लगते हैं कि दूसरे देशों की अच्छी से अच्छी विचार-धारा उन्हें छिछली मालूम पड़ती है। वे हर प्रकार से दूसरे देशों पर हावी होना चाहते हैं; इसीलिए उन्हें फ़ौज और हथियारों की ज़रूरत पड़ती है। तरह-तरह के बहाने खोजकर वे संसार की शान्ति को भंग करते हैं। लड़ाई उनके जीवन का एक अंग बन जाती है। यद्यपि इनके इस दूषित और घृणित कार्य से मनुष्यमात्र को कष्ट पहुँचता है; परन्तु आवेश में आकर वे कष्ट की उतनी चिन्ता नहीं करते जितनी अपनी हार-जीत की। ऐसी दशा में इस दूषित राष्ट्रीयता की वृद्धि से सुख और शान्ति की कैसे आशा की जाय ?

शब्दों के उलट-फेर से अर्थ में चाहे जितनी भी तब्दीली हो जाय; परन्तु यदि भावों में परिवर्तन नहीं होता तो इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। राष्ट्रीयता शब्द के अन्दर एक ऐसा संकीर्ण भाव पैदा हो गया है कि सच्चे विचारकों को यह कर्णप्रिय नहीं होता। इसके स्थान पर सार्वलौकिकता शब्द का प्रयोग किया जाय तो सम्भव है इसका प्रभाव मानव-समाज पर बहुत ही शान्तिवर्धक हो। जब तक मनुष्य अपने ही देश को स्वर्ग समझेगा, अपनी ही संस्कृति उसे सबसे प्राचीन और ऊँची मालूम होगी तथा अपने ही देश की उन्नति-अवनति की परिधि में वह घिरा रहेगा, तब तक वह मानव-समाज का हित नहीं सोच सकता। सार्वलौकिकता का सिद्धान्त लोगों को इस बात का अवसर प्रदान करेगा कि वे मनुष्य को स्वदेशी और विदेशी न समझें। पिछले ५० वर्षों से यह संकीर्ण राष्ट्रीय भाव इतनी तेज़ी से बढ़ा है कि एक देश का निवासी दूसरे देश के निवासियों को अपना शत्रु-सा समझने लगा है। इस वैज्ञानिक युग में मेल-जोल की भावना और अधिक बढ़नी चाहिए ताकि सबके सहयोग से वैज्ञानिक अनुसन्धानों का अधिक से अधिक उपयोग किया जाय। कोई भी देश आज पूरी तरह स्वावलम्बी नहीं है। आर्थिक दृष्टि से तो यह बुरा भी नहीं है; परन्तु सबके सहयोग की योजना के लिए विश्व-शान्ति

अनिवार्य है। एक ओर तो हर देश किसी ख़ास व्यवसाय में विशेषज्ञ बनने की कोशिश करे और अपनी अन्य आवश्यकताओं के लिए कितने ही मुल्कों पर निर्भर रहे और दूसरी ओर उन्हीं मुल्कों से लड़ाई लड़ने पर आमादा हो— इसे मूर्खता नहीं तो और क्या कहा जाय। कोशिश तो यह होनी चाहिए कि हर दशा में प्रत्येक देश एक दूसरे के साथ हो। लड़ाइयाँ किसी भी देश को लाभ नहीं पहुँचातीं। थोड़े समय के लिए किसी देश का राज्य विस्तार बढ़ जाता है, तो इसकी क़ीमत जनता को अन्त में बड़े महँगे भाव पर चुकानी पड़ती है।

यह स्वाभाविक है कि हम अपने पड़ोसी के सुख दुःख की अधिक चिन्ता करते हैं, इसलिए कि वह रात-दिन हमारे सामने होता है और हर मौक़े पर हमें उसकी ज़रूरत है; परन्तु दूर के लोगों के प्रति हमारा वह भाव नहीं रह सकता। इसी तरह का अन्तर स्वदेशी और विदेशी लोगों में है। एक देश का रहनेवाला जितनी चिन्ता और उन्नति अपने देश की करेगा, उतनी दूसरे देशों की नहीं, इसलिए कुछ विद्वान् राष्ट्रीयता को मनुष्य का स्वाभाविक गुण मानते हैं; परन्तु शिक्षा और दीक्षा द्वारा लोगों का संकुचित भाव व्यापक बनाया जा सकता है। यदि हम अपने देश पर मर मिटने या मरने-मारने के लिए तैयार हैं तो इसी शक्ति का उपयोग हम मनुष्य-मात्र के लिए क्यों नहीं करते? अपने देश की बेकारी और ग़रीबी जब हमें खटकती है तो दूसरे देशों में भी इन्हें देखकर हमें तकलीफ़ होनी चाहिए। हो सके तो हमें वहाँ जाकर उनकी दवा-दारू भी करनी चाहिए। मिशनरी कार्य-कर्ताओं का कर्तव्य केवल धर्म-प्रचार करना नहीं है। धर्म तो हर प्रकार के लोगों की सेवा में है। इसी भाव को पैदा करने के लिए सार्वलौकिकता सबसे उपयुक्त है।

किसी नयी भावना के प्रचार के लिए नये संगठनों की आवश्यकता पड़ती है। फिर यह भी आवश्यक है कि बहुत से लोग इस दिशा में कार्य करें। अभी तक इस विषय पर यथेष्ठ विचार नहीं किया गया है कि सार्व-लौकिकता के लिए क्या क्या किया जाय। सबसे पहले तो इसके उद्देश्य के

प्रचार के लिए कई पत्र-पत्रिकाएँ निकालनी होंगी। हिन्दी [illegible] शायद ही एक-दो पत्र इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। अच्छे लेखकों का कर्तव्य है कि वे कुछ पुस्तकें प्रतिवर्ष इस विषय पर जनता को प्रदान करें। फिर जगह-जगह पर इस उद्देश्य को सामने रखते हुए सभा-सुसाइटियाँ भी बनानी होंगी। हर स्कूल और कालेज में इस तरह का एक संगठन बने और पुरस्कार या पारितोषिक देकर विद्यार्थियों को इसमें शामिल होने के लिए उत्साहित किया जाय। जो विद्यार्थी इस कार्य में अधिक होनहार वा विशेष रुचिवाले दिखायी दें, उन्हें 'सार्वलौकिकता' सञ्चित कोई पदक प्रदान किया जाय। सरकारी और गैर-सरकारी सभी संस्थाओं से इसमें आर्थिक सहायता ली जाय। धनी-मानी व्यक्तियों से भी धन लिया जाय। समय-समय पर बड़े-बड़े विद्वानों को बुलवाकर स्थान-स्थान पर व्याख्यान दिलाये जायँ। देशी, विदेशी का भेद-भाव छोड़कर हर आदमी इसमें शरीक किया जाय। जिस प्रकार राष्ट्र-संघ की ओर से हर देश में मज़दूर-संगठन बना हुआ है, उसी तरह सार्वलौकिक संस्थाएँ संगठित होकर विश्व-कल्याण की चिन्ता करें। यह कार्य बहुत ही व्यापक और ठोस है। जब साधारण कार्यों के लिए थोड़ा बहुत धन लगाकर संगठन बना लिए जाते हैं तो इस महान कार्य के लिए हिचक और रुकावट की कोई गुंजाइश नहीं है। विचारकगण इस बात को सोचें कि किस प्रकार के साहित्य से इस भावना की वृद्धि हो सकती है। सार्वलौकिकता का विश्वव्यापी संगठन कार्यशील व्यक्तियों के हाथ में पड़ कर उस चोटी पर पहुँच सकता है जहाँ से संसार को विश्व-शान्ति की झलक अच्छी तरह दिखाई देगी।

जब तक लोगों में ऐसी सहानुभूति की जागृति न होगी तब तक एकता समानता, सहयोग आदि अच्छे भाव नहीं पनप सकते। इनकी अनुपस्थिति में प्रजातन्त्र की सफलता मृग-तृष्णा के सिवाय और कुछ नहीं है। प्रजातन्त्र-वाद के अन्दर जिन-जिन गुणों का समावेश किया गया है उन्हें ग्रहण करने के लिए मनुष्य को साधारण शिक्षा के अतिरिक्त किसी दर्जे तक सांस्कृतिक विकास की भी आवश्यकता है। वास्तव में तानाशाही को हमें इसीलिए घृणित समझना चाहिए कि वह आर्थिक योजना के सामने संस्कृति को महत्व

नहीं देती। यदि प्रजातन्त्र सांस्कृतिक उन्नति का सच्चा समर्थक और पोषक है तो इन अनुभवों को वह कदापि नहीं ठुकरा सकता। प्रजातन्त्रवादी देश आज उन्नतिशील राष्ट्रों में गिने जाते हैं। ब्रिटेन, अमेरिका और रूस की गणना संसार के उन राष्ट्रों में की जाती है जिनके पास उन्नति के सभी साधन मौजूद हैं! संसार की सांस्कृतिक और व्यावसायिक उन्नति करने में इनका श्रेय कुछ कम नहीं है; परन्तु इनका राजनैतिक संगठन विश्व-कल्याण अथवा विश्व-शान्ति को जो आशाएँ प्रदान करता है उनकी पूर्ति होते न देखकर लोगों को इनके प्रति खेद एवम् घृणा तक होती है। जिस महान योजना को लेकर ये संसार को प्रजातन्त्रवादी बनाना चाहते हैं उसमें इन्हीं की कमजोरियों से पग-पग पर रुकावटें पड़ती हैं। कुछ बाहरी शक्तियाँ भी इसे अवश्य रोकती हैं, परन्तु यदि वे सच्ची लगन से अपने मार्ग पर चलते होते तो इनके समर्थक उनसे भी बड़ी शक्तियों को दूर कर इनका रास्ता साफ़ कर देते।

चौथा अध्याय

प्रजातन्त्रवाद

प्रजातन्त्रवाद शासन की उस व्यवस्था को कहते हैं जिसमें राजा के बदले प्रजा स्वयम् राज्यशासन की बागडोर अपने हाथ में रखती है। इसकी सबसे व्यापक परिभाषा अमेरिका के प्रेसिडेन्ट अब्रहम लिंकन ने की है। इसमें उन्होंने कहा है—"जिस देश के लोग अपने हितों की रक्षा के लिए स्वयम् अपना शासन करते हैं उस देश की शासन-प्रणाली को *प्रजातन्त्रवाद* कहते हैं।" विद्वानों को यह परिभाषा आज भी मान्य है। प्रजातन्त्रवाद आधुनिक सभ्यता की निशानी समझी जाती है। किसी देश की शासन-प्रणाली जितनी ही अधिक प्रजातन्त्र की ओर झुकी हुई पायी जाती है वह उतना ही अधिक सभ्य समझा जाता है। कारण यह है कि प्रजातन्त्रवाद सांस्कृतिक विकास तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता का मापदण्ड माना गया है। मनुष्य के नैतिक आदर्शों

में प्रजातन्त्रवाद को इतना उच्च स्थान प्राप्त है कि उसकी रक्षा के लिए मनुष्य व्यक्तिगत रूप से जेल-यात्रा तथा फाँसी तक को स्वीकार कर लेता है और सामूहिक रूप से बड़े बड़े युद्ध छेड़ कर ख़ून की नदियाँ बहा देता है। गत महायुद्ध के समय भी अमेरिका के प्रेसिडेन्ट विल्सन ने कहा था कि यह युद्ध प्रजातन्त्रवाद की रक्षा के लिए किया गया है। वर्तमान महायुद्ध का एक कारण यह भी है कि संसार के कुछ तानाशाहों ने, जो प्रजातन्त्रवाद की व्यवस्था में विश्वास नहीं रखते, संसार से उसका उच्छेद करने का प्रयत्न किया है। जिन दो दलों के बीच में यह युद्ध चल रहा है उनमें से एक दल अपने को प्रजातन्त्रवाद का समर्थक कहता है और दूसरे को इसका विरोधी।

पश्चिमी विद्वानों के मतानुसार ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रजातन्त्रवाद का जन्म अथवा उदय राजाओं के अत्याचारों के कारण हुआ। राजाओं ने प्रजा-पालन छोड़कर जब प्रजा-पीड़न आरम्भ किया तब प्रजातन्त्र की नींव पड़ी। इतिहास बतलाता है कि युरोप में प्रजातन्त्र का विकास उन्हीं देशों में हुआ जहाँ पहले राजतन्त्र था। संसार के प्राचीन इतिहास में प्रजातन्त्र शासनों के कई उल्लेख आते हैं। पाश्चात्य विद्वानों के आधार पर अधिकतर भारतीय विद्वान् भी यह समझने लगे कि राजनीति-शास्त्र का जन्म यूनान और रोम में हुआ है। वहीं से बढ़ते-बढ़ते यह शास्त्र युरोप, एशिया, तथा अन्य देशों में फैला है; परन्तु जब हम प्राचीन भारतीय विद्वानों के राजनैतिक विचारों का अध्ययन करते हैं तो उपरोक्त विचार हमें सर्वथा निर्मूल सिद्ध होता है। वैदिक साहित्य में प्रजातन्त्र राज्यों का वर्णन कितने ही स्थलों पर मिलता है। वैदिक काल के आर्य परिवार के नमूने पर बने हुए जिन छोटे-छोटे समूहों में रहते थे उन्हें वे 'जन' कहते थे। किसी जन के सब निवासी 'सजात' कहलाते थे। जनों के इन सजातों को 'विशः' अर्थात् प्रजा का नाम दिया गया था। उस समय के जो आर्य कृषक थे उनके जन की विशः किसी न किसी स्थान पर बस गयीं और जो न बसीं वे 'अनवस्थित' रहीं। इस प्रकार प्रत्येक जन की अलग-अलग टुकड़ी को 'ग्राम' कहने लगे। यह ग्राम जहाँ बस गया वह स्थान भी 'ग्राम' हो गया। ग्राम का नेता 'ग्रामणी' हुआ और

लड़ाई के लिए प्रत्येक जन का ग्रामवार इकट्ठा होना 'संग्राम' कहलाया।

ग्राम के मुखिया को जैसे ग्रामणी कहते हैं वैसे ही जन के नेता को राजा। संगठित जन या राष्ट्र के मुखिया, राजा का वरण होता था। विशः या प्रजा उसे चुनती थी। राजा को विशः के सामने प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी और 'समिति' की सहायता से शासन चलाना पड़ता था। इस 'समिति' से भी छोटी एक 'सभा' होती थी जो राष्ट्र के न्यायालय का काम देती थी। समिति के सदस्य 'राजकृतः' अर्थात् राज के कर्ता-धर्ता होते थे। जिन राष्ट्रों में राजा न होता उनमें समिति के सदस्य ही राज्य करते थे। ऐसे राज्य वैदिक युग में और बाद में भी बने रहे—यहाँ तक कि जनपदों में भी प्रजातन्त्र राज्य थे।

रामायण में रामचन्द्र जी को युवराज बनाते समय राजा दशरथ ने अपने राज्य की प्रजा के सभी प्रतिनिधियों की सम्मति ली थी उसका वर्णन मिलता है। महाभारत में वृष्णि-यादवों के नेता वासुदेव कृष्ण ने मथुरा के अन्धक यादवों के राजा कंस का वध किया और द्वारिका में अपना 'संघ' या पंचायती राज्य बनाया था। इसी संघ के एक संघ-मुख्य (मुखिया) उग्रसेन तथा दूसरे वासुदेव कृष्ण थे।

ईसा से ६ सौ वर्ष पूर्व बुद्ध के समय में भी भारत में प्रजातन्त्र राज्यों की संख्या कम न थी। शाक्य, लिच्छवि, विदेह, मल्ल, कोलि, मोरिय, बुली, भर्ग आदि जातियों ने अलग-अलग प्रजातन्त्र राज्यों की स्थापना की थी। वृजि और मल्ल इन सबमें प्रसिद्ध थे। बुद्ध वृजि-संघ के संगठन को बहुत पसन्द करते थे। मल्लों का संघ या पंचायती राज्य आधुनिक गोरखपुर ज़िले में था। वृजि-संघ की राजधानी वैशाली के खँडहर मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले में है। बुद्ध ने स्वयम् वृजियों की परिषद और उनके वृजि (राष्ट्रीय) कार्यों तथा (राष्ट्रीय नियम और संस्थाओं) का उल्लेख किया है।

पाणिनि और कौटिल्य ने भी वृजियों का उल्लेख किया है। जातक की एक कथा में लिच्छवियों की राज्य-व्यवस्था का वर्णन किया गया है। लिच्छवि कुल ७,७०७ की संख्या में थे। ये सभी मिलकर अपना राजा, उप-राजा, तथा सेनापति चुनते थे। एक बौद्ध ग्रन्थ में लिखा हुआ है—

"उन लोगों (वैशालीवालों) में सब लोग अपने आपको राजा समझते हैं। सब कहते हैं कि मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ। कोई किसी का अनुगामी नहीं होता।" इससे स्पष्ट है कि राजसभाओं में सभी लोगों को बोलने तथा मत देने का प्रायः समानरूप से अधिकार था और प्रत्येक व्यक्ति इस बात के लिए लालायित रहता था कि अब की बार मैं राजा बन जाऊँ।

जिस समय सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया था उस समय अनेक प्रजातन्त्र राज्य इस देश में मौजूद थे। स्वयम् यूनानी इतिहासकारों ने इनका वर्णन किया है। स्ट्रैबो के लेखानुसार कथई जाति में जो सबसे सुन्दर होता था वही राजा चुना जाता था। अद्रेस्तई, सौभूति, छुद्रक, मालव, शिवि, अगीसनेई (अग्रश्रेणी), अम्बष्ट, मुसिकनि, वृचमनोई, पटल, आदि कितने ही प्रजातन्त्र राज्यों का उसने उल्लेख किया है। मेगस्थनीज़ ने स्पष्ट लिखा है कि "वैदिक युग के उपरान्त भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रजातन्त्र शासन की स्थापना हो गयी थी।" 'गण' और 'संघ' शब्द इसी प्रजातन्त्रवाद के पर्यायवाची शब्द हैं। ईसा से प्रायः ४०० वर्ष पूर्व पाणिनि ने जहाँ-तहाँ संघों का उल्लेख किया है। युरोपीय लेखक 'गण' शब्द का कुछ और अर्थ करते हैं उससे आधुनिक विद्वान् धोखे में पड़ जाते हैं। महाभारत, धर्मशास्त्र, अमरकोष, अवदानशतक, कात्यायन के वार्तिक तथा कुछ जैन-धर्म-ग्रन्थों में 'गण' और 'संघ' शब्द बार-बार प्रजातन्त्र के अर्थ में प्रयोग किये गये हैं। पाणिनि ने मद्र, वृजि, राजन्य, अन्धक, वृष्णि, महाराज, भर्ग, आदि समाजों में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली का वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त उसके ग्रन्थ में वृक, दामनि, दांडकी, कौष्ठकी, जालमानि, जानकी, यौधेय, पर्श्व, आदि प्रजातन्त्र राज्यों का भी उल्लेख आया है। इसी प्रकार का कथन यूनान के कतिपय विद्वानों ने भी किया है। हिन्दुओं की भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, राष्ट्रिक, द्वैराज्य, अराजक, उग्र तथा राजन्य आदि विभिन्न शासन-प्रणालियों में स्वाराज्य तथा वैराज्य शासन-प्रणालियाँ प्रजातन्त्रवाद की ही उन्नत रूप थीं। पहली में सम्पूर्ण प्रजा मिल कर उस व्यक्ति को अपना शासक चुनती थी जो सबसे बलवान, बुद्धिमान और विद्वान् होता था। दूसरी में प्रजा बिना राजा

के शासन-कार्य चलाती थी। यह प्रणाली मसीह के ३०० वर्ष बाद तक प्रचलित रही। इन राज्यों की जनता अपनी सम्पन्नता तथा सुखपूर्ण जीवन के लिए प्रसिद्ध थी।

कुछ यूनानी इतिहासकारों ने 'स्वतन्त्र राज्यों' को प्रजातन्त्र न मान कर या तो उन्हें जंगली जातियों का समूह ठहराया है, अथवा 'ग्राम-पंचायतों' के संकुचित दायरे में सीमित कर दिया है। उन्हीं को आधार मान कर पाश्चात्य विद्वान् तथा उन्हीं सरीखे कुछ भारतीय विद्वान् भी ग्राम-पंचायतों के अतिरिक्त भारतवर्ष की प्राचीन शासन-प्रणालियों में किसी और संगठन को स्वीकार कर लेने में हिचक करते हैं। उन्हें यह स्मरण रहना चाहिए कि स्वयम् बौद्ध संघ की रचना राजनैतिक संघ के अनुकरण पर ही हुई थी। हमारे प्राचीन साहित्य में राजा की जितनी महिमा गायी गयी है उतनी संसार के किसी भी साहित्य में नहीं मिलती। इसका बहुत कुछ कारण प्रजातन्त्रवाद की असफलता है। "भारतीय इतिहास और परम्परागत आख्यायिकाओं से हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि प्रजातन्त्र की विफलता के बाद आर्य लोग राजतन्त्र के पक्षपाती बन गये थे और इसीलिए आर्य-साहित्य में राजा की इतनी अधिक प्रशंसा है।" इस विफलता पर यदि पाश्चात्य विद्वान् भारत-वासियों की योग्यता में सन्देह करते हैं तो यह उनकी भूल है। १७वीं शताब्दी में क्रामवेल ने जिस प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली की स्थापना की थी वह एक पीढ़ी से अधिक नहीं चली। वर्तमान प्रजातन्त्र राज्यों की नीति को देखते हुए किसी को भी इस विषय में सन्देह न होगा कि प्रजातन्त्रवाद अपने उद्देश्य में अभी तक असफल रहा है।

प्राचीन यूनान में भी प्रजातन्त्र-शासन-प्रणाली का आश्चर्यजनक विकास हुआ था। प्रत्येक बड़े नगर में सब नागरिकों की सम्मति से कुछ काल के लिए एक शासक-मंडल नियुक्त होता जो शासन-सम्बधी सभी कार्यों की देख-रेख करता था। यूनान का प्रत्येक नगर प्रजातन्त्र-शासन का केन्द्र था। ये नगर एक दूसरे से स्वतन्त्र होते थे। रोम में उतने व्यापक तथा विशुद्ध प्रजातन्त्र नगर नहीं थे। वहाँ नागरिक इकट्ठे होकर थोड़े से भव्य पुरुषों की

एक समिति बना लेते थे जो शासन-कार्य देखा करती थी। यूनान की तरह यहाँ सभी नागरिक प्रतिदिन सार्वजनिक सभाओं में इकट्ठे होकर शासन नहीं चलाते थे। आगे चलकर जब उन शासकों की महत्त्वाकांक्षाएँ बढ़ीं तो उन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये। इन्हीं सम्राटों ने यूनान के उपर्युक्त प्रजातन्त्र राज्यों का सत्यानाश किया।

वास्तविक रूप में वर्तमान प्रजातन्त्रवाद का उदय फ्रान्स में हुआ। मध्यकाल में इस पद्धति का विकास रुक गया, परन्तु इसकी विचार-धारा किसी न किसी रूप में चलती रही। यद्यपि राजनैतिक संगठनों में प्रजा का हाथ कुछ भी नहीं था फिर भी मध्य युग में ईसाई-धर्म का जो प्रसार हुआ उसके संगठन का आधार प्रजातन्त्रवादी भावानाएँ ही थीं। ईसाइयों की बहुत सी सभा-समितियाँ होती थीं जिनमें धार्मिक पद चुनाव-द्वारा प्राप्त होते थे। इस शासन-प्रणाली का वास्तविक विकास और प्रसार १८वीं और १९वीं शतियों में हुआ और १७८९ ई० की फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने इसको एक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक स्वरूप प्रदान किया। तत्कालीन फ्रान्सीसी लेखक रूसो और वाल्टेयर ने इसके दर्शन और विज्ञान के तथा फ्रान्स के राजाओं ने अपनी निरंकुशता द्वारा इसकी वृद्धि के लिए उपयुक्त क्षेत्र तैयार किया। फ्रान्स के राजा १४वें और १५वें लुई विलासी और निरंकुश थे। उन्होंने अपने भोग-विलास में देश के ख़जाने खाली कर दिये और प्रजा को तरह-तरह के करों के भार से लाद दिया। जब १६वाँ लुई गद्दी पर बैठा तो ख़जाना खाली था; साथ ही शोषित प्रजा अब कर देने में असमर्थ थी और उसमें असन्तोष और विद्रोह की भावनाएं फैल रही थीं। लाचार होकर उसने एक लोक-सभा स्थापित की। इस सभा ने निश्चय किया कि बिना प्रजातन्त्र-विधान बनाये अब हम लोग शान्त न होंगे। परिस्थितियों के दबाव से राजा भी लोक-सभा के साथ कुछ आगे बढ़ा पर अधिक नहीं और अन्त में सभा और राजा में अनबन हो गयी। इसी के परिणामस्वरूप संसार और प्रजातन्त्रवाद के इतिहास में एक अभूतपूर्व और चिरस्मरणीय घटना घटी। लोगों ने फ्रान्स की राजधानी पैरिस पर चढ़ाई कर शहर को अपने काबू में कर लिया और राजा

तथा राजभक्तों को पकड़ कर कारागार में रख फ्रान्स में राजा-रहित प्रजातन्त्र की स्थापना की। अब तो युरोप के निरंकुश शासकों के दिल दहल उठे। कैदी राजा लुई इन शासकों के साथ षड्यन्त्र रचने का प्रयत्न करने लगा, पर वह प्रकट हो गया। उस पर मुक़दमा चलाया गया और वह अपराधी साबित हुआ। फलतः उसे फाँसी दे दी गयी। इस प्रकार फ्रान्स में राज्यतन्त्र का अन्त हुआ और प्रजातन्त्र की नींव पड़ी।

फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के पहले उत्तरी अमेरिका में प्रजातन्त्र-शासन सफलता-पूर्वक स्थापित हो चुका था। १७८२ ई० में इंग्लैंड के शासनाधिकार से स्वतन्त्र होने पर उत्तर-अमेरिका-निवासियों ने वहाँ प्रजातन्त्र राज्य-पद्धति की स्थापना की जो आज भी प्रचलित है और जिसने कई रूपों में अमेरिका को संसार का शिरमौर्य बनाया है। अमेरिका प्रजातन्त्र के विकास में असल में इँग्लैंड ने ही पथप्रदर्शक का काम किया। अतः इँग्लैंड को वर्तमान प्रजातन्त्र का आगार कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इस देश का इतिहास प्रजातन्त्र के विकास की कहानी है। १२१५ ई० में अपने राजा जॉन से अँगरेज़ों ने अपने अधिकारों का घोषणापत्र मंजूर कराया। प्रथम चार्ल्स से युद्ध करके उसे प्राण-दंड दिया और प्रजातन्त्र की स्थापना की; पर वह स्थायी न रह सका और जनता ने चार्ल्स द्वितीय को गद्दी पर बैठाया। इसके बाद राजा जेम्स २य को गद्दी त्यागने पर विवश किया गया और जब उसकी जगह विलियम तृतीय गद्दी पर बैठा तो उससे यह शर्त करा ली गयी कि वह पार्लियामेन्ट के अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। इस क्रम से इँग्लैंड में धीरे-धीरे प्रजातन्त्र का विकास हुआ। सन् १८३२, १८६७, १८८५ और १६११ में कई महत्त्वपूर्ण वैधानिक सुधार जारी हुए जिनसे सर्व-साधारण को शासन-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हुए और राजा का प्रभुत्व अस्तप्राय हो गया। ब्रिटेन का सम्राट अब देश का एक आभूषण-मात्र रह गया है।

यहाँ पर एक बात स्मरणीय है। यद्यपि इँग्लैंड में प्रजातन्त्र का विकास पहले से हो रहा था और अमेरिका में फ्रान्स से पहले ही इसकी स्थापना हो चुकी थी, फिर भी फ्रान्स की राज्यक्रान्ति को प्रजातन्त्रवाद के विकास

में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। इसका कारण यह है कि फ्रान्स में जो राज्यक्रान्ति हुई उसका असर सर्वव्यापी हुआ और सारे युरोप के राज-सिंहासन हिल उठे। सन् १८३० में युरोप में एक देशव्यापी विद्रोह की आग धधक उठी। आस्ट्रिया, नीदरलैंड, यूनान, हंगरी, पोलैंड आदि देशों में राजतन्त्र के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन उठ खड़े हुए। इसी समय सन् १८३२ ई० में इँग्लैंड में रिफार्म बिल पास हुआ। इस प्रकार १६वीं शती के आरम्भ से अन्त तक प्रजातन्त्रवाद की शक्ति बढ़ती ही गयी। २०वीं शती में जर्मनी, रूस, तुर्की और आस्ट्रिया के साम्राज्यों का अन्त हो गया और उनकी जगह प्रजातन्त्र ने ली। पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, युगोस्लाविया, लटविया, इस्थोनिया, लिथुआनिया, अज़रबैजान, जार्जिया आदि देश प्रजातन्त्र के अनुगामी हुए। इस आन्दोलन की लहर इतनी बढ़ी कि आज सारा संसार प्रजातन्त्रवाद की भावनाओं से ओत-प्रोत है। राज्य-शासन का इसे सबसे उत्तम, सुसंस्कृत और विस्तृत स्वरूप माना जाता है। राजनीति-विशारदों का मत है कि इस तन्त्र में मनुष्य अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँच सकता है। यद्यपि वर्तमान युद्ध के कारण प्रजातन्त्रवाद संकट में पड़ा हुआ दिखायी देता है पर इसमें सन्देह नहीं है कि संसार की राजनैतिक विचार-धारा उत्तरोत्तर उसी की ओर बढ़ रही है और अन्त में उसी की विजय होगी ऐसा भी प्रतीत होने लगा है। लोगों की सामूहिक भावनाओं को अस्त्र-शस्त्र, हिंसा और युद्ध अधिक काल तक दबाये नहीं रख सकते। इसकी सफलता का यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण है कि इस महायुद्ध में भी प्रत्येक दल इसी की दुहाई देकर लड़ रहा है—यद्यपि उसकी अन्तःकरण की भावनाएँ कुछ और हैं।

अभी तक प्रजातन्त्रवाद के ऐतिहासिक विकास का वर्णन करते हुए यह दिखलाया गया है कि वस्तुतः वह संस्था आज के विकसित रूप में अब युरोप की देन है। यथार्थ में संसार के प्रायः सभी सभ्य देशों में इसकी जड़ जम चुकी है; परन्तु आज सारे संसार की प्रवृत्ति राजनैतिक क्षेत्र में इसी विचार-धारा की ओर है ऐसा नहीं कहा जा सकता। अब हमें प्रजातन्त्रवाद के बाह्य अंग-प्रत्यंगों को देखना है जिनके द्वारा थोड़ी बहुत उलट-फेर के साथ यह

विभिन्न देशों में कार्यान्वित हो रहा है। इसके बाद हम उसके दर्शन और विज्ञान पर विचार करेंगे।

यह कहा गया है कि ईसवी सन् के पूर्व के यूनान और रोम के छोटे छोटे नगर-राज्य प्रजातन्त्रवाद के उद्गम-स्थान थे। प्रत्येक राज्य का विस्तार उस नगर और उसके आस-पास के थोड़े से घेरे में हुआ करता था। वहाँ के सभी नागरिक एक स्थान पर एकत्र होकर अपना शासन-कार्य चलाते थे। साथ ही वहाँ दास-प्रथा भी थी। प्रत्येक राज्य में हज़ारों की संख्या में दास हुआ करते थे जिन्हें राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। ये लोग नागरिकों के घरेलू कार्य किया करते थे, इसलिए उन्हें राजनैतिक तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने को पर्याप्त समय मिल जाता था। परन्तु आज-कल की दुनिया किसी और तरह की है। बड़े-बड़े साम्राज्यों की सीमा इतनी बड़ी है कि सम्पूर्ण जनता का एकत्र होकर किसी भी विषय में राय देना सर्वथा असम्भव है। न तो पहले की तरह अब दास-प्रथा है और न छोटे-छोटे नगर-राज्य हैं, इसीलिए वर्तमान प्रजातन्त्र का स्वरूप कुछ और ही हो गया है। समयानुसार इसमें परिवर्तन होना अनिवार्य भी था।

वर्तमान प्रजातन्त्रवाद प्रतिनिधि-निर्वाचन-पद्धति के द्वारा चलता है। शासन-कार्य चलाने के लिए यह प्रथा बहुत ही सुगम मानी गयी है। सारे राज्य अथवा देश को छोटे-छोटे निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। फिर इन क्षेत्रों की जनता लिखित मत-प्रदर्शन (वोट) द्वारा अपने प्रतिनिधि चुनती है। ये प्रतिनिधि एक जगह इकट्ठे होकर देश की शासन-व्यवस्था की बागडोर अपने हाथ में लेते हैं। यहीं देश के लिए कायदे-कानून बनाते हैं और शासन-सम्बन्धी नीति को निर्धारित करते हैं। आरम्भ से ही यह प्रणाली चली आ रही है कि प्रजातन्त्र देशों में दो व्यवस्थापिका सभाएँ होती हैं। एक में उच्च श्रेणी के धनीवर्ग के प्रतिनिधि बैठते हैं और दूसरी में मध्यम और निम्नश्रेणियों के। ऐसा इसलिए किया गया है कि समाज का एक वर्ग दूसरे वर्ग के प्रति हिंसापूर्ण नीति व्यवहार न कर सके; परन्तु आजकल उच्चवर्ग की सभा के अधिकार नाममात्र को रह गये हैं और यह सभा साधारण वर्ग की प्रतिनिधि-

सभा का विरोध करने में असमर्थ है। ये दोनों सभाएँ मिलकर देश के शासन-सम्बन्धी कायदे-कानून बनाती हैं और सिद्धान्त रूप से अपनी नीति के लिए अपने निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायित्व रखती हैं।

जनता के निर्वाचन-अधिकार पर भी अब कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है। जिस प्रकार भोजन के प्राणदायक होते हुए भी अति मात्रा में न खाना, सड़े-गले अन्न से परहेज़ इत्यादि, खाने के कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक होता है उसी प्रकार मताधिकार नागरिक स्वतन्त्रता की अमिट निशानी होते हुए भी कुछ सिद्धान्तों पर आधारित और कतिपय नियमों से सम्बद्ध है। जहाँ तक सिद्धान्तों का प्रश्न है उन पर राजनैतिक आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं; पर इस बात पर सभी सहमत हैं कि सर्व-साधारण की इच्छा ही प्रभुता है और यह प्रभुता तब तक ठीक रूप से प्रकट नहीं होती जब तक सम्पूर्ण नागरिक प्रतिनिधियों के चुनाव में भाग नहीं लेते। प्राचीन राजनीतिज्ञों का यही सिद्धान्त था और वर्तमान समय के युरोपीय राजनैतिकों का भी यही मत है कि उन लोगों को छोड़कर जो इतने निम्नश्रेणी के हैं कि अपनी निजी इच्छा नहीं प्रकट कर सकते और सब लोगों को प्रतिनिधियों के चुनाव में भाग लेने का अधिकार मिलना चाहिए। कुछ और राजनीतिज्ञों ने भी इस मत का समर्थन किया है। एक और राजनीतिज्ञ का कहना है कि प्रभुता सब लोगों में निवास करती है और हर एक नागरिक का—चाहे वह कोई भी हो—प्रतिनिधित्व में भाग होना चाहिए। प्रजा का यह प्राकृतिक अधिकार है कि जिन कानूनों को उसे मानना पड़ता है उनके बनाने में उसका भी हाथ हो।

इस मताधिकार की तह में जो सिद्धान्त काम करता है वह यही है कि जनता अपना शासन स्वयम् करे। अस्तु इस सिद्धान्त के अन्तर्गत ये चार बातें मुख्य रूप से आ जाती हैं—

(१) कानून बनाने में जनता के प्रतिनिधियों की सम्मति।

(२) जनता के प्रतिनिधियों की सम्मति के बिना कर के रूप में एक भी पाई न तो वसूल की जा सके और न खर्च हो।

(३) राज्य-प्रबन्ध करनेवाले मन्त्री भी प्रजा द्वारा निर्वाचित इन्हीं प्रतिनिधियों में से चुने जायँ। और

(४) ये प्रतिनिधि समय-समय पर सरकार के कार्यों की आलोचना करते रहें।

यही सिद्धान्त नियमबद्ध होकर सब जगह भिन्न-भिन्न रूप से कार्यान्वित होते हैं। पागलों को वोट देने का अधिकार कहीं नहीं होता। हर देश में एक उमर निर्धारित कर दी जाती है और उस उमर से नीचेवाले लोग वोट नहीं दे सकते। कुछ देशों में किसी खास रकम की आमदनीवाले लोग ही वोट दे सकते हैं। इस प्रकार हर देश में मताधिकार के अलग-अलग नियम होते हैं।

कुछ लोगों की धारणा थी और आज भी है कि राजनीति का क्षेत्र स्त्रियों के लिए नहीं है और उन्हें मताधिकार नहीं मिलना चाहिए; परन्तु जैसे-जैसे प्रजातन्त्रवाद का विकास हो रहा है और वैयक्तिक स्वतन्त्रता का मापदंड ऊँचा होता जा रहा है, स्त्रियों को भी राजनैतिक अधिकार मिलते जा रहे हैं। इँग्लैंड के कतिपय नेताओं और लेखकों ने स्त्रियों को राजनैतिक अधिकार दिलाने के आन्दोलन में काफ़ी कार्य किया है। आज वहाँ की स्त्रियाँ पार्लियामेन्ट की मेम्बर हैं और सरकारी पदों पर भी आसीन हैं। और कई प्रजातन्त्रवादी देशों में भी स्त्री और पुरुषों को समान राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं। यह प्रजातन्त्रवाद के श्रेष्ठ लक्षणों में से एक है कि प्रत्येक मनुष्य को राज्य-संचालन में अपना मत देने का अधिकार प्राप्त हो। जिस देश में जितने अधिक लोगों को मत देने के अधिकार प्राप्त होते हैं, प्रजातंत्रवाद के विकास की दृष्टि से वह देश उतना ही अधिक उन्नत समझा जाता है।

प्रजातंत्रवादी देशों में लोग अपने प्रतिनिधि चुनकर व्यवस्थापिका अथवा धारा-सभाओं में भेजते हैं जो देश की शासन-व्यवस्था के लिए कानून बनाती हैं और राष्ट्रीय तथा और परराष्ट्र-सम्बन्धी नीति निर्धारित करती हैं। परन्तु इन प्रतिनिधियों को न तो इतना अवकाश होता है और न राज्य-सम्बन्धी विषयों का इतना ज्ञान कि ये नित्य प्रति या नियम से शासन-सम्बन्धी कार्यों को चला सकें। इसलिए धारा-सभा अपने कुछ सदस्यों की एक कार्य-कारिणी सभा

बना लेती है जिसे प्रायः सभी देशों में 'मंत्रिमंडल' कहते हैं। यही मंत्रिमंडल शासन-सम्बन्धी दैनिक कार्य चलाता है और अपने कार्यों के लिए धारासभा के प्रति जिम्मेवार होता है। अर्थात् इसका उत्तरदायित्व जनता के प्रति एक प्रकार से अप्रत्यक्ष होता है। इस मंत्रिमंडल का मुख्य काम है धारा-सभा द्वारा बनाये हुए कानूनों को अमल में लाना। समय-समय पर अपनी बैठक में वह इस मंडल की कार्रवाइयों की टीका-टिप्पणी भी करती है। यदि वह देखती है कि मंत्रिमंडल ने उसकी निर्धारित नीति का अनुसरण किया है तब तो वह उसका समर्थन करती है; परंतु इसके विपरीत कार्य होने पर वह उस मत्रिमंडल को हटाकर दूसरा मंत्रिमंडल स्थापित कर देती है और शासन-सूत्र उसी को सौंप दिया जाता है। साधारण रूप से यही मंत्रिमंडल देश की सरकार कहलाती है।

परंतु किसी भी देश का शासन थोड़े से मंत्री नहीं चला सकते। यदि आप अपने ज़िले के शासन का विचार करें तो पटवारी से लगाकर कलक्टर तक आप ऐसे सौ सरकारी नौकर तो आसानी से गिना जायँगे जिनमें कचहरी के अफ़सर, पुलिस-विभाग के कर्मचारी, डाकखाना, आबकारी आदि विभागों के अहलकार आदि शामिल होंगे। इसका अर्थ यह है कि शासन-सम्बन्धी कार्य चलाने के लिए देश में हज़ारों कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए मंत्रिमंडल की सहायता के लिए स्थायी सरकारी कर्मचारी रहते हैं। मंत्रिमंडल बदल जाने पर भी ये कर्मचारी अपने पदों पर नियुक्त रहते हैं। जिस समय जो मन्त्रिमंडल जैसी नीति निर्धारित करे उसे ईमानदारी के साथ अमल में लाना इनका कर्त्तव्य समझा जाता है। प्रत्येक प्रजातंत्र शासन में ये स्थायी नौकर रहते हैं और वर्तमान काल में शासनकार्य जैसे-जैसे विस्तृत होता रहता है इनकी संख्या भी वैसे ही बढ़ती जाती है। कुछ विद्वानों ने इनके लिए नौकरशाही शब्द का प्रयोग किया है। उनका विचार है कि यद्यपि ये कर्मचारी प्रजातंत्र के लिए अनिवार्य हैं परन्तु इनसे प्रजा के हितों में बाधा भी पड़ती है क्योंकि यही अपने को शासक-वर्ग समझने लगते हैं और मंत्रिमंडल प्रायः इस वर्ग की अधिक अवहेलना नहीं कर सकता।

धारा-सभा प्रायः क़ानून बनाकर और उसे मंत्रिमंडल के हाथों में

सौंपकर विसर्जित हो जाती है। मंत्रिमंडल क़ानून को स्थायी कर्मचारियों द्वारा अमल में लाने की व्यवस्था करता है। यह वर्ग स्वयम् अपने को शासक समझकर क़ानून की कई रूपों में अवहेलना करके प्रजाहितों को चोट न पहुँचा सके, इसलिए प्रजातंत्र शासन में न्यायालयों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। यदि कोई व्यक्ति यह समझता है कि किसी दूसरे व्यक्ति ने उसके नागरिक अधिकारों पर किसी प्रकार का आघात किया है अथवा किसी सरकारी कर्मचारी ने अपने पद का अनुचित उपयोग करके उसके प्रति अन्याय किया है तो उसे यह अधिकार प्राप्त है कि वह न्यायालय में जाकर अभियोग सिद्ध करे और अपने अपराधी को उचित दंड दिलवाये। प्रजातंत्र राज्यशासन में न्यायाधीशों को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है कि वे अपने आपको अन्य विभागों के अधीन नहीं समझते। क़ानून का निष्पक्ष होकर समर्थन करना उनका कर्त्तव्य समझा जाता है। प्रजातंत्र शासन में क़ानून की दृष्टि में सब लोग समान हैं क्योंकि क़ानून की प्रभुता ही इस शासन का आधार है।

प्राचीन समय में यह माना जाता था कि राजा कोई अधर्म अथवा अपराध नहीं करता अथवा उसके सब अपराध क्षम्य हैं। कालान्तर में उसी की नक़ल उसके कर्मचारी भी करने लगे जिसके फलस्वरूप प्रजा पर मनमाने अत्याचार होने लगे। प्रजातंत्र शासन इसके ठीक विपरीत सिद्धान्त पर अवलम्बित है। इसमें प्रजा द्वारा बनाये गये क़ानून ही सर्व्वोपरि हैं। यदि बड़े से बड़ा कर्मचारी क़ानून का उल्लंघन करता है तो वह दंडनीय है। अमेरिका के प्रजातंत्र-शासन के सब से बड़े पदाधिकारी प्रेसिडेन्ट रूज़वेल्ट यदि शाम को अपनी मोटरकार में हवा खाने जायें और समय पर उसकी बत्ती न जलायें तो एक साधारण पुलिस का सिपाही उनकी गाड़ी रोक कर उनका चालान कर सकता है। प्रजातंत्र राज्य में क़ानून की सत्ता सर्वोपरि है।

इसी आधार पर यह कहा जाता है कि प्रजातन्त्र के मुख्य तीन अंग हैं। एक तो धारा-सभा जो क़ानून बनाती है और शासन-नीति निर्धारित करती है, दूसरा कार्य-कारिणी अथवा मन्त्रिमंडल और स्थायी कर्मचारीवर्ग जो क़ानून को अमल में लाते हैं, और तीसरा न्यायालय जो इस बात की

भी इँग्लैंड की पार्लियामेन्ट में कई ऐसे स्वतन्त्र सदस्य हैं जो किसी पार्टी अथवा दल से सम्बन्ध नहीं रखते।

अस्तु यह बात निर्विवाद है कि प्रजातन्त्र शासन बहु-संख्यक दल का ही शासन है। जो पार्टी सबसे अधिक संख्या में होगी वही अपना मन्त्रिमंडल बनायेगी और सब प्रकार से उसकी सरकारी नीति का समर्थन करेगी। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी बहुसंख्यक पार्टी के विरुद्ध दो अथवा अधिक पार्टियाँ आपस में समझौता करके मिल जाती हैं और मिश्रित मन्त्रिमंडल बनाती हैं। तात्पर्य यह है कि मन्त्रिमंडल का निर्माण पार्टियों की शक्ति पर निर्भर है या यों कहा जाय कि पार्टियों की मत-संख्या के अनुसार मन्त्रिमंडल भी बदलते रहते हैं। जब एक पार्टी का मन्त्रिमंडल बन जाता है तो दूसरी पार्टी अथवा पार्टियाँ विरोधी दल कहलाने लगती हैं और मन्त्रिमंडल की नीति की आलोचना करना उनका धर्म होता है। देश की ठोस राजनीति के लिए यह विरोधी राजनैतिक वातावरण आवश्यक होता है।

अब प्रजातन्त्रवाद के दर्शन अर्थात् मूल सिद्धान्तों पर भी कुछ विचार करना चाहिए। कहा जा चुका है कि प्रजातन्त्र का उदय राजतन्त्र के खँडहरों पर हुआ है। जो प्रभुता पहले राजा का एकाधिकार मानी जाती थी वह अब सामूहिक रूप से प्रजा में निवास करती मानी गयी है। प्रजा अपने इस अधिकार को अस्थायी रूप से किसी विधिपूर्वक निर्वाचित मन्त्रिमंडल अथवा किसी निर्वाचित व्यक्ति विशेष को एक निश्चित अवधि तक के लिए सौंप देती है; परन्तु इस बात के लिए वह सदैव तत्पर रहती है कि मन्त्रिमंडल के अयोग्य सिद्ध होने पर इस शक्ति को फिर वापिस ले ले। यह प्रभुता अविभाजनीय समझी जाती है। एक देश की प्रजा के लिए सामूहिक रूप से एक ही सत्ता होगी। यदि किसी देश की प्रजा दो दलों में विभाजित होकर प्रभुता का विभाजन करना चाहे तो वह देश दो हिस्सों में बँट जायेगा। एक विद्वान ने लिखा है "सभ्य जीवन के लिए समाज और उसके शासन की आवश्यकता है। जो शासन प्रजा द्वारा चलाया जाता है उससे देश का अधिक कल्याण होता है। शान्ति और सुख नाम की वस्तु प्रजा-शासन के अतिरिक्त कोई और

नहीं है। इसी से व्यक्तित्व का विकास और लोकहित की वृद्धि होती है। शासन तो एक साधन-मात्र है। उसका मूल उद्देश्य प्रजा की उन्नति, सुख और आनन्द है। यदि इनकी प्राप्ति नहीं होती तो बड़े से बड़े विधान को नष्ट-भ्रष्ट कर देने में कोई हानि नहीं है। यह न समझना चाहिए कि ऐसा करना प्रजा की उन्नति में बाधक या अहितकर होगा। वास्तव में इससे प्रजा में अपने सच्चे हितों के समझने की बुद्धि आयेगी और इन दिन हितों की रक्षा करने की शक्ति।

राजनीतिक क्षेत्र में नागरिक का व्यक्तित्व उसके अधिकारों से प्रकट होता है। पुराने राजतन्त्र में प्रजा के कोई अधिकार नहीं थे। राजा की इच्छानुसार प्रजा को चलना पड़ता था। परन्तु प्रजातन्त्र में उसके कुछ ऐसे अधिकार हैं जिन्हें कोई भी शक्ति नहीं छीन सकती। ये अधिकार प्रजा के जन्मसिद्ध अधिकार हैं इसलिए उनकी रक्षा करना उसका कर्त्तव्य है। पश्चिम की जातियों ने इन अधिकारों की प्राप्ति और इन की रक्षा में अपने प्राण तक निछावर कर दिये हैं। प्रजा के अधिकार सामाजिक जीवन की वे माँगें हैं जिनके बिना स्वस्थ समाज का निर्माण नहीं हो सकता। शासन का कर्त्तव्य इन्हीं माँगों को जुटाना और पूरा करना है। इनकी रक्षा के लिए प्रजा को क्रान्ति भी करनी पड़ी है। फ्रान्स की प्रसिद्ध राज्य-क्रान्ति में जनता ने राजा से अपने इन्हीं अधिकारों की माँग पेश की थी।

इन अधिकारों की कोई सूची नहीं बनायी जा सकती। समय-समय पर समाज जिस बात को अपने विकास के लिए उपयोगी और आवश्यक समझ कर क़ानून का स्वरूप दे देता है वही उसका अधिकार कहलाता है। फिर भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनके बिना प्रजातन्त्र में सुखी जीवन उतना ही असम्भव है जितना स्वच्छ वायु और पानी के बिना स्वस्थ शरीर। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति में प्रजा ने 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभावना' की अपनी तीन माँगें पेश की थीं। नागरिक के अधिकारों में स्वतन्त्रता को सर्व-प्रथम स्थान दिया गया है; परन्तु जब हम जरा गम्भीरता से विचार करते हैं तो मालूम होता है कि वास्तविक या पूर्ण स्वतन्त्रता तो कहीं है ही नहीं। एक

एक पग पर क़ानून के बन्धन लगे हुए हैं। यदि हम चाहें कि सड़क के बीच में बैठ कर खाना खायें तो पुलिस हमें ऐसा नहीं करने देगी। यदि हम पूर्ण स्वतन्त्रता के नशे में किसी आदमी को मार दें तो न्यायालय से हमें दंड दिलाया जा सकता है। तो फिर हमारी स्वतन्त्रता कहाँ रही? साधारण रीति से इच्छानुसार काम करने को स्वतन्त्रता कहते हैं; परन्तु जब नियम के कारण हम इच्छानुसार काम नहीं कर सकते तो स्वतन्त्रता कैसी? एक विद्वान् ने अपनी पुस्तक में स्वतन्त्रता शब्द का राजनीतिक और वैयक्तिक दृष्टिकोणों से मार्मिक विश्लेषण किया है। प्लेटो, कान्त और हेगेल आदि दार्शनिकों के विचारों का वर्णन करते हुए उसने लिखा है 'कि जिस इच्छा का आधार तर्क होता है अर्थात् जो कार्य बहुत सोच-विचार के बाद किया जाता है उससे नैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति होती है अर्थात् बहुत सोच-विचार के बाद मनुष्य अपनी इच्छा को एक आदर्श के रूप में इस विश्वास से परिणत करता है कि उसे आत्म-विकास में सहायता मिलेगी।'

इन्हीं विचारों को हम एक और पहलू से उपस्थित कर सकते हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छानुसार कार्य करने लगे तो शान्तिपूर्ण सामाजिक जीवन असम्भव हो जाय। इसलिए अपनी इच्छा अथवा स्वतन्त्रता के कुछ अंशों को मनुष्य सार्वजनिक इच्छा में परिणत करे और उस सार्वजनिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए क़ानूनों का निर्माण हो अर्थात् स्वेच्छापूर्वक अपनी इच्छा-प्रेरित स्वतन्त्रता को सार्वजनिक हित के विचार से त्याग दे तो इससे नागरिक को किसी प्रकार की हानि नहीं होगी; परन्तु इस प्रेरणा से जिस सामूहिक स्वतंत्रता को वह जन्म देगा उसमें उसका तथा उसके देशवासियों का बराबर-बराबर भाग मौजूद होगा। जहाँ उसकी बुद्धि काम नहीं करती अथवा उसकी व्यक्तिगत शक्ति का अन्त हो जाता है, वहाँ सामूहिक विचार-धारा उसकी सहायता करेगी। राजनीतिक संगठन में जितनी भी शक्तियां का निर्माण किया गया है वे सब सार्वजनिक उपयोग के साधन हैं। ऐसा माना जाता है कि प्रजातन्त्र के अन्दर एक भी कार्य ऐसा नहीं होता जो सामूहिक हित के विरुद्ध हो। कभी-कभी इससे व्यक्तिगत स्वार्थ को अवश्य क्षति पहुँचती है परन्तु कोई

भी विचारवान् मनुष्य इसे बुरा नहीं कह सकता। यदि हमारे सात्विक विचारों की जागृति के लिए पाशविक शक्तियों को दबाया जाय तो इसमें हमारी क्या हानि हो सकती है। इसीलिए सरकारी नियमों को पालन करने में हमें हिचकने की जरूरत नहीं। जब तक किसी देश के निवासियों के अन्दर यह भाव पैदा नहीं होता तब तक वहाँ सच्चे प्रजातन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती। हमारे अन्दर नाना प्रकार की कमज़ोरियाँ मौजूद हैं। शिक्षा और विचार-शक्ति द्वारा जितना ही उनका दमन और शमन किया जायगा उतना ही मानव-समाज आगे को बढ़ेगा। प्रजातन्त्रवाद इसी सामाजिक शुद्धि की एक राज-नीतिक योजना है। इसीलिए इसकी सफलता तब तक सम्भव नहीं है जब तक मानव समाज सभ्यता और रहन-सहन के एक विशेष स्तर पर नहीं पहुँच जाता। अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने के लिए मनुष्य के अन्दर एक विशेष शक्ति की आवश्यकता होती है। समाज तभी उसे बन्धनों से मुक्त कर सकता है जब उससे किसी हानि की सम्भावना न हो। सच्चे प्रजातन्त्र की स्थापना और विकास में यही भय सब से अधिक बाधक होता है।

इस प्रश्न का एक दूसरा भी पहलू है। जहाँ एक ओर राज्य हमारे कुछ अधिकारों को स्वीकार करता है और उनकी रक्षा करने की हामी भरता है वहाँ वह हमारे लिए कर्त्तव्य पालन की एक मर्यादा भी खड़ी कर देता है जिसका पालन करना हमारा धर्म हो जाता है। इस प्रकार प्रजातंत्र की योजना में सामाजिक जीवन के अधिकारों और कर्त्तव्यों का ताना-बाना सा बुना हुआ है। मनुष्य के अधिकारों का उसके कर्त्तव्यों से एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो नागरिक अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता उसे अपने अधिकारों से वंचित होना पड़ेगा। जब हमने अधिकारों की चर्चा आरम्भ की थी तो इस बात पर विचार किया गया था कि नागरिक के अधिकार क्या हैं। अधिकारों की सूची बनाना असम्भव है; पर कुछ ऐसे अधिकार अवश्य हैं जो प्रत्येक प्रजातंत्रवादी देश में पाये जाते हैं। उन्हें हम मनुष्य के बुनियादी अधिकार कह सकते हैं और उनकी एक संक्षिप्त सूची भी बनायी जा सकती है। प्रत्येक मनुष्य को बोलने और लिखने की स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। बोलने की स्वतंत्रता से यहाँ

की इच्छा होते हुए भी उन्हें कोई काम नहीं मिलता था। ऐसी परिस्थिति में जनता ने यह आवाज़ उठायी कि सरकार बेरोज़गारों को या तो काम दे अथवा उनकी रोटी का कोई प्रबन्ध करे। यह माँग स्वीकार की गयी और इस प्रकार के क़ानून बने जिनसे बेकारों को राज्य की ओर से हर सप्ताह भत्ता मिलने लगा। अमेरिका में प्रेसिडेन्ट रूज़वेल्ट ने 'न्यू डील' नाम की एक योजना निकाली जिसमें लाखों आदमियों को काम मिला और जिन्हें काम नहीं मिल सका उन्हें घर बैठे भत्ता दिया जाने लगा। आजकल पश्चिम के प्रायः सभी समृद्ध देशों में 'बेकारी बीमा' की योजना सरकार द्वारा कार्यान्वित की जा रही है। इसी प्रकार वहाँ निम्न श्रेणी के मनुष्यों के लिए रहने के लिए मकानों की समस्या बड़ी जटिल हो गयी है। इन देशों में मकान बनाना इतना महँगा हो गया है कि गरीब और मध्यम श्रेणी के लोग स्वयम् मकान नहीं बना सकते। साथ ही वहाँ मकानों का किराया भी इतना अधिक होता है कि अधिकांश लोग उसे नहीं सह सकते। अब वहाँ की जनता ने यह माँग पेश की है कि जिनके पास अपने घर नहीं हैं सरकार उनके लिए मकान बनवाने की व्यवस्था करे। ब्रिटिश सरकार ने इस माँग के औचित्य को स्वीकार किया है और युद्ध के बाद सामाजिक पुनर्निर्माण की जो 'बीब्रिज योजना' बन रही है उसमें इस समस्या पर काफी ध्यान दिया जा रहा है।

अब हम कुछ ऐसी आवश्यक बातों पर विचार करेंगे जिनके बिना प्रजातन्त्र शासन का विकास नहीं हो सकता और न वह किसी देश में सफलता-पूर्वक चल सकता है। इनमें सबसे पहली शिक्षा है। बिना शिक्षा के प्रजातन्त्र कभी सफल नहीं हो सकता; अर्थात् प्रजातन्त्र के विकास के लिए शिक्षा-प्रसार उतना ही आवश्यक है जितना जीवन के लिए जल और वायु। आज अमेरिका और इंग्लैंड के समान प्रजातन्त्रवादी देशों में ७० प्रतिशत से अधिक जनता शिक्षित है। जो जनता शिक्षित न होगी वह अपनी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को समझने और उनके हल करने की क्षमता नहीं रख सकती। वह अपने प्रतिनिधियों के चुनाव में गलती और

स्वार्थी वक्ताओं के धाराप्रवाह भाषणों के प्रवाह में बहक कर देश का अहित तक कर सकती है। संसार में शिक्षा के साथ ही प्रजातन्त्र का विकास हुआ है।

शिक्षा के बाद प्रजातन्त्र के लिए दूसरी आवश्यक चीज़ लोकमत है। जिस देश का लोकमत जितना अधिक जागरित और सुसंगठित होगा उस देश में प्रजातन्त्र की जड़ें उतनी ही अधिक गहरी और दृढ़ होंगी। प्रजातन्त्र में असली शासन तो लोकमत का ही होता है। व्यवस्थापिका सभाएँ, मन्त्रि-मंडल तथा सरकारी कर्मचारी सभी लोकमत का रुख देख कर अपना कार्य करते हैं। अस्तु अधिकार और कर्त्तव्यों के निरूपण में इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिए कि राजसत्ता का आधार लोकमत है। लोकमत को ठुकरा कर दंड-व्यवस्था द्वारा यदि किसी अन्य नीति का आश्रय लिया गया तो उसे प्रजातन्त्र नहीं कह सकते।

जब इटली और एबिसीनिया में युद्ध चल रहा था तो फ्रान्स और ब्रिटेन का लोकमत इटली के विरुद्ध था; पर तत्कालीन ब्रिटिश सरकार इटली को नाराज़ नहीं करना चाहती थी। ब्रिटेन के तत्कालीन परराष्ट्र सचिव सर सेमुअल होर और फ्रान्स के तत्कालीन परराष्ट्र सचिव लवाल ने एक गुप्त योजना बनायी जिसमें यह तय किया गया कि इटली के साथ सन्धि कर ली जाय और एबिसीनिया को तीनों देश मिल कर बाँट लें। समाचार-पत्रों द्वारा इस योजना का पता जनता को चल गया। फिर तो ब्रिटेन में सरकार के विरुद्ध ऐसा आन्दोलन उठा कि सर सेमुअल होर को अपना पद त्याग कर कुछ काल के लिए सार्वजनिक जीवन से अलग हो जाना पड़ा और तब तक के डूबे वे अभी तक नहीं उभर पाये हैं।

प्रजातन्त्र देशों में लोकमत के बनाने में समाचारपत्रों का बहुत बड़ा हाथ रहता है। एक तरह से समाचारपत्र ही जनमत को बनाते हैं। जब वर्तमान् युद्ध आरम्भ हुआ उस समय श्री चेम्बरलेन ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री थे। पर उनके समय में युद्ध में ब्रिटेन को कुछ भी सफलता न मिली। तब समाचार-पत्रों ने आन्दोलन आरम्भ किया कि मिस्टर चेम्बरलेन को पद त्याग कर

देना चाहिए। यह आन्दोलन बढ़ता गया और अन्त में उन्हें पद त्याग करना पड़ा। उनकी जगह मिस्टर चर्चिल आये। प्रजातन्त्रवादी देशों में समाचारपत्रों की संख्या बहुत अधिक होती है और कुछ समाचारपत्र तो लाखों की संख्या में छपते और बिकते हैं। प्रेस की स्वतन्त्रता प्रजा का एक बहुत बड़ा अधिकार माना जाता है।

प्रजातन्त्र की सफलता के लिए अन्तिम और सबसे महत्वपूर्ण बात नागरिकों की सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने की प्रवृत्ति है। यद्यपि यह भावना शिक्षा से और लोकमत आदि के द्वारा बनती है; पर जब तक यह भावना देश में प्रबल रूप से नहीं फैल जाती तब तक प्रजाहित सुरक्षित नहीं रहता। हमारे देश में सार्वजनिक सभाओं, भाषणों इत्यादि में बहुत कम लोग जाते हैं। पश्चिम में सभा वगैरह टिकट लग कर हुआ करती हैं; फिर भी वहाँ भीड़ लगी रहती है। कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूर भी टिकट लेकर भाषण सुनने और क्लबों में अख़बार पढ़ने जाते हैं। याद रखिये ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री लायड जार्ज एक मोची के लड़के हैं और इटली के भूतपूर्व तानाशाह मुसोलिनी एक लुहार के। ये अपनी योग्यता से बढ़े हैं।

बहुत अंशों में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संसार का लक्ष्य प्रजातंत्र है और सब देश उसी ओर जा रहे हैं अथवा जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। आज सारा संसार एक बड़े नगर के रूप में है। रेल, तार, हवाई जहाज और रेडियो ने समय और दूरी को जीत लिया है। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की परिधि दिन पर दिन कम होकर सार्वजनिक जीवन में परिणित होती जाती है। शासन का कार्यक्षेत्र दिन पर दिन विस्तृत होता जाता है। लाला रामलाल का व्यवसाय कपड़े और चीनी की दलाली है, पर वे अपने शहर की म्युनिसिपेलिटी तथा एक स्कूल की कार्यकारिणी-समिति के सदस्य भी हैं और प्रायः इनकी बैठकों में जाते भी हैं। वे अपने प्रान्त की सभा के चुनाव में वोट देते हैं और लोग उनके पास वोट माँगने आते हैं। वे स्वयम् भी अपने बड़े लड़के को जो वकील है प्रान्तीय सभा में भेजना चाहते हैं। वे एक कपड़े की मिल के डाइरेक्टर भी हैं और अभी जब मिल में हड़ताल हुई

तो एक डेपूटेशन में शामिल होकर सरकार में गये थे। उनके द्वारा कम्पनी का कुछ माल विदेश गया था जहाँ से रुपया आने में कुछ गड़बड़ हो रही है। अमेरिका में रुई का भाव गिर जाने से इस देश में भी भाव गिर गया और उनकी मिल को हानि हुई जिससे मिल बन्द हो गयी और तीन हज़ार आदमी बेकार हो गये। उन्हें स्वयम् बड़ी हानि हुई। उन्होंने कई संस्थाओं को चन्दा देना बन्द कर दिया जिससे उन संस्थाओं पर आर्थिक संकट आ गया। यह मनुष्य के सार्वजनिक और निजी जीवन की घनिष्ठता और सार्वदेशिकता का एक छोटा सा उदाहरण है। इससे प्रकट है कि आज यदि संसार के एक कोने में एक घटना घटती है तो उसका प्रभाव पृथ्वी के चारों कोनों में फैलता है। सरकार के एक कार्य का प्रभाव देश भर में पड़ता है। जब जीवन की व्यापकता इतनी अधिक बढ़ गयी है तो प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि उसमें अधिक से अधिक भाग ले; तभी तो व्यास के शब्दों में अधिक से अधिक मनुष्यों का अधिक से अधिक भला होगा।

अब हमें देखना चाहिए कि प्रजातंत्र की ओर जो संसार की प्रगति है वह क्या राष्ट्रीय स्वतंत्रता से वंचित है क्योंकि हम देख चुके हैं कि जहाँ स्वतंत्रता नहीं है वहाँ प्रजातंत्र नहीं हो सकता। प्रजातंत्र के जिन वाह्य अंगों तथा मूल सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है यदि उनकी दृष्टि से देखें तो यह कहना पड़ेगा कि हम प्रजातंत्र से कोसों दूर हैं। जहाँ राजतंत्र लोकमत के अनुसार नहीं चलता, लोकहित में नहीं चलता वरन् शासकों के मत के अनुसार और उन्हीं के हितों में चलता है, उसमें भारतवर्ष का क्या स्थान है। हमारा देश ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत है, अर्थात् यहाँ लोकतंत्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यहाँ के सरकारी कर्मचारी अपने कामों के लिए प्रजा के प्रति जिम्मेदार नहीं हैं। भारत का वाइसराय भारतमन्त्री के प्रति जिम्मेदार हैं। यह मन्त्री ब्रिटेन में रहता है और ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी हैं। परन्तु हमारे शासक बार-बार कहते हैं कि भारतवर्ष में अँगरेज़ी शासन का लक्ष्य इस देश को स्वायत्त शासन देना है और इस दिशा में काफ़ी प्रगति हो चुकी है। अस्तु इस प्रगति पर भी एक विहंगम दृष्टि डालना

उचित है।

यह सिद्धान्त कभी नहीं भूलना चाहिए कि स्वतंत्रता के अभाव में लोकतंत्र की कल्पना नहीं हो सकती। इसलिए सिद्धान्त रूप से इस देश में प्रजातंत्र नहीं है। पर प्रजातंत्रों के जिन बाह्य अंगों का वर्णन किया गया है वे असल नहीं तो नकली रूप में इस देश में ज़रूर विद्यमान हैं। इसी को हमारे शासक प्रजातंत्र शासन कहते हैं। भारतवर्ष के प्रान्तों तथा केन्द्रीय सरकार में व्यवस्थापिका सभाएँ बनी हुई हैं। कहने के लिए कार्यकारिणी समितियाँ भी हैं और प्रान्तीय हाईकोर्ट तथा उनके ऊपर एक केन्द्रीय न्यायालय भी है। इन संस्थाओं का आरम्भ सन् १६०६ में हुआ और जिन वैधानिक सुधारों द्वारा इनका जन्म हुआ उनको 'मिन्टो-मॉरले सुधार' कहते हैं। इसी समय से प्रान्तीय सभाओं में चुने हुए प्रतिनिधियों का बहुमत हुआ और जनता द्वारा किये जाने वाले चुनाव को सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर लिया गया। मुसलमानों को अपने प्रतिनिधि अलग चुनने का हक भी इसी समय मिला। इसके बाद दूसरा क़ानून ब्रिटिश पार्लियामेन्ट में सन् १६१६ में पास हुआ। इसकी सब से बड़ी बात यह थी कि प्रान्तीय सभा के मन्त्री कुछ बातों के लिए प्रान्तीय सभा के प्रति जिम्मेदार हो गये यद्यपि मुख्य बातों के लिए अन्य मन्त्री गवर्नर के प्रति ही उत्तरदायी बने रहे। इसके बाद तीसरा महत्वपूर्ण वैधानिक सुधार सन् १६३४ के पार्लियामेन्ट के ऐक्ट द्वारा पास हुआ जिससे काफ़ी लोगों को वोट देने के अधिकार मिले। इन्हीं सुधारों को हमारे शासक प्रजा-तन्त्र की ओर हमारी प्रगति बतलाते हैं। परन्तु यदि इन सुधारों का विश्लेषण किया जाय तो ये सुधार प्रजातन्त्रवादी नहीं कहे जा सकते। प्रान्तीय गवर्नर प्रान्त की प्रजा के प्रति जिम्मेदार न होकर ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तर-दायी है। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा के पास किये हुए किसी भी क़ानून को वह रद्द कर सकता है अथवा उसका विरोध होते हुए भी वह अपने विशेष अधिकार द्वारा नया क़ानून बना सकता है। इसी प्रकार केन्द्रीय शासन में भी वाइसराय व्यवस्थापिका सभा के प्रति जिम्मेदार नहीं है। उसके बनाये क़ानून वह रद्द कर सकता है और उसकी इच्छा के विरुद्ध नये क़ानून

बना सकता है । यही हाल प्रान्तीय तथा केन्द्रीय कार्यकारिणी सभाओं के सदस्यों अथवा मन्त्रियों का है । वे केवल वाइसराय अथवा गवर्नरों के प्रति जिम्मेदार होते हैं । एक और बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि यहाँ पर मताधिकार की प्रणाली जाति और धर्म के आधार पर स्थित की गयी है । इससे इन सभाओं में बैठनेवाले प्रतिनिधि देश और समाज के महान् हितों को भूल कर जाति और फिरकों के छोटे-छोटे स्वार्थों पर लड़ने लगते हैं । वयस्क और मनुष्य होने के नाते सबको मताधिकार प्राप्त नहीं है ।

इस वैज्ञानिक युग में भी प्रान्तीय धारासभा के सदस्यों के चुनाव में ५८ प्रतिशत पुरुषों और ९० प्रतिशत स्त्रियों को मत देने का अधिकार प्राप्त नहीं है । केन्द्रीय धारा सभा के सदस्यों के चुनाव में ६६ प्रतिशत भारतीय नागरिक मताधिकार से वंचित रक्खे गये हैं । इसी से हम अनुमान कर सकते हैं कि प्रजातन्त्र की ओर हमारी प्रगति कैसी और कहाँ तक है ।

यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि इस देश में ५०० से अधिक छोटी-बड़ी रियासतें जागीरें इत्यादि हैं जहाँ अनियन्त्रित राजतंत्र अपने पक्के रंग में स्थापित है । ये राजे अँगरेज़ी छत्रछाया में निरंकुशता के साथ राज करते हैं । इन रियासतों में प्रजातंत्र के चिह्न चिराग़ लेकर खोजने पर भी न मिलेंगे ।

इस पर्यवेक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस देश में प्रजातन्त्र नहीं है । परंतु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि यहाँ प्रजातन्त्र हो ही नहीं सकता । समय की प्रगति तथा ऐतिहासिक संस्कारों के कारण इस देश में प्रजातन्त्र के लिए क्षेत्र तैयार है । थोड़े से बाहरी अड़ंगों के कारण उसकी स्थापना रुकी हुई है । पहले हम इन ऐतिहासिक संस्कारों की बात करेंगे । ईस्वी सन् के लगभग ३० वर्ष पहले सिकन्दर ने पच्छिमी भारत पर आक्रमण किया था । उस समय के इतिहासकार लिखते हैं कि उत्तर-पश्चिमी भारत में उस समय कई प्रजातन्त्र राज्य थे । हमारी ग्राम पंचायतें जो अनादि काल से इस देश में अँगरेज़ी न्यायालय स्थापित होने के बाद भी जीवित रहीं हैं और जिन्हें अब पुनर्जीवित करने का प्रयास किया जा रहा है, प्रजातंत्र के आधार पर ही बनी थी । उनमें गाँव की हर जाति के मुखिया पंच होते थे और उनका

निर्णय सबको मान्य होता था। अब यदि हम प्रजातन्त्र के आधुनिक लक्षणों की ओर दृष्टि डालें तो हमारे देश में लोकमत बहुत स्वस्थ दशा में दिखायी देगा। हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली है। प्रसिद्ध कांग्रेस नेता बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने कांग्रेस का इतिहास नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है—'आरम्भ ही से कांग्रेस का ध्येय भारतीयों द्वारा प्रजातंत्र शासन की स्थापना करना है।' फिर इस देश के लोकमत में समाचार-पत्रों का स्थान बहुत ही ऊँचा है। कई ब्रिटिश और अमेरिकन राजनीतिज्ञों ने इस देश के प्रेस के उच्च आदर्शों और गम्भीरतापूर्ण कार्य-प्रणाली की प्रशंसा की है। हमारे देश की जाग्रत और शिक्षित जनता सार्वजनिक कार्यों में दिन प्रति दिन अधिकाधिक भाग ले रही है। हमारे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी दिन पर दिन बढ़ते जा रहे हैं। वर्तमान् युद्ध के कारण अमेरिका, चीन और रूस से हमारे सम्बन्ध घनिष्ठ हो रहे हैं। इससे यह स्पष्ट है कि हमारे यहाँ प्रजातंत्र स्थापित होने के सभी लक्षण वर्तमान हैं—केवल अँगरेज़ी साम्राज्यवादी शासन की नीति के कारण वह अभी तक इस स्थिति को प्राप्त नहीं कर सका है। इस शासन के अन्तर्गत हमें प्रजातंत्र के जो थोड़े बहुत अधिकार मिले हुए हैं उन पर हमने योग्यतापूर्वक अमल किया है। सन् १६३५ के विधान क़ानून के अन्दर कांग्रेस ने जो मन्त्रिमंडल बनाये थे उनके कार्यों की प्रशंसा उस समय के कई प्रान्तीय गवर्नरों ने की थी। भारतवासी ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के सदस्य हो चुके हैं। राष्ट्र-संघ (लीग ऑव नेशन्स) की बैठकों और उनकी कार्रवाई में भाग ले चुके हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर सभाओं (इंटरनेशनल लेबर कान्फ्रेन्सों) में इस देश के प्रतिनिधि होकर शामिल हो चुके हैं। क्या ये सब बातें सिद्ध नहीं करतीं कि ये प्रजातंत्र-शासन के पूर्ण अधिकारी हैं? इन बातों के बावजूद भी कुछ साम्प्रदायिक नेता अपने अस्थायी स्वार्थों तथा साम्राज्यवादी चालों के शिकार होकर यह कहने से नहीं चूकते कि इस देश की सभ्यता तथा संस्कारों में प्रजातंत्र नहीं पनप सकता। मुस्लिम लीग के प्रसिद्ध नेता भी उनमें से एक हैं। जब से लीग ने पाकिस्तान का प्रस्ताव पास किया तभी से वे ऐसा कहने लगे हैं। यदि इनके इससे पहले के भाषण पढ़े

जायँ तो वे प्रजातंत्र के कट्टर उपासक नज़र आते हैं और कड़े से कड़े शब्दों में भारतवर्ष के लिए उसकी माँग पेश करते हैं। कुछ हरिजन नेता भी शासकों की माया में पड़ कर लोक-सत्ता को भूल गये हैं और इसी प्रकार की उल्टी बातें करते हैं; परन्तु ये समय के प्रवाह के इतने प्रतिकूल हैं कि इन्हें स्थायी और प्रभावयुक्त समर्थन नहीं मिल सकता। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में बड़े-बड़े साम्राज्य विध्वंस हो गये और उनके खंडहरों पर प्रजातन्त्र फलफूल रहे हैं। परन्तु हमारे यहाँ के प्रतिक्रियावादी नेताओं की गति ऐसी निराली है कि अपने छोटे-छोटे स्वार्थों के आगे उन्हें संसार के गति-प्रवाह की परवाह नहीं। जब संसार एकता की ओर जा रहा है; अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र वृहद अमेरिका की नीति का अनुसरण कर रहे हैं; रूस अपनी पुरानी सीमा तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है और चीन अपनी सीमा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अथक परिश्रम में व्यस्त है; तब हमारे साम्प्रदायिक नेता देश को विभाजित करने की बात सोच रहे हैं! जहाँ अमेरिका के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मिस्टर वेंडल विल्की 'एक संसार' और उसके लिए एक से प्रजातन्त्र का आदर्श रख रहे हैं वहाँ ये लोग प्रजातन्त्रवाद के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं! इस असफल प्रयत्न का परिणाम हास्यास्पद होने के अतिरिक्त और कुछ न होगा। भारतीय लोकमत संसार की राजनीतिक प्रगति से अपने को दूर नहीं रख सकता। सम्भव है यहाँ प्राचीन काल की तरह गण राज्यों की स्थापना न हो, फिर भी प्रजातन्त्र के आधार पर एक ऐसी शासन-पद्धति की स्थापना अवश्य होगी जिसमें नागरिक स्वतन्त्रता को पूर्ण स्थान प्राप्त होगा। उसे हम पंचायती राज्य कहें अथवा किसी और नाम से पुकारें; परन्तु उसकी नींव में लोकमत और नागरिक अधिकारों की शिला होगी।

अध्याय ५

प्रजातन्त्र के मूलतत्व

अब तक जितनी भी शासन-प्रणालियों का निर्माण हुआ है उनमें प्रजातन्त्र सबसे श्रेष्ठ और वैज्ञानिक माना जाता है। पिछले समय में इसका महत्व कम था परन्तु वर्तमान वैज्ञानिक युग में इसमें किसी को सन्देह नहीं है। कुछ विद्वान यदि इसका विरोध करते हैं तो इसका कारण प्रजातन्त्र की वे कमजोरियाँ हैं जो सरलता-पूर्वक हटायी जा सकती हैं। जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, कोई इसमें दो राय नहीं रखता कि वर्तमान समस्याओं और वैज्ञानिक साधनों को देखते हुए प्रजातन्त्र से बढ़ कर कोई दूसरी शासन-पद्धति है ही नहीं। इसके अतिरिक्त अन्य शासन-प्रणालियों में मानव जीवन का वह तत्व नहीं है जिससे समाज में सुख और शान्ति का प्रादुर्भाव हो। राजनीतिक संगठन का मुख्य उद्देश्य शान्ति और रक्षा है। चूँकि मानव स्वभाव कभी सन्तुष्ट नहीं होता इसलिए सरकार के कर्त्तव्य क्रमशः बढ़ते गये हैं। आरम्भ में राज्य की उत्पत्ति से समाज में शान्ति की व्यवस्था की गयी। तत्पश्चात् यह संगठन जोर पकड़ता गया और आज वह समय उपस्थित है जब कि सर-कारी संगठन के सामने और संगठनों का कोई विशेष मूल्य नहीं है। जैसे किसी बड़े वृक्ष की सैकड़ों शाखाएँ और उप शाखाएँ उसकी जड़ के सहारे पनपती और फूलती-फलती हैं उसी प्रकार अन्य संगठन राजनीतिक संगठन के आश्रित होकर विकसित होते हैं। इससे अलग उनका कोई अस्तित्व नहीं होता।

राजनीति में प्रवेश करने का कारण सामाजिक आवश्यकताऐं हैं। यदि समाज की शान्ति और रक्षा का प्रश्न किसी और प्रकार से हल हो गया होता तो विभिन्न शासन प्रणालियों की कोई आवश्यकता न थी। यह भी सम्भव है कि आज एक भी सरकारी कर्मचारी और संस्थाएँ दिखायी न देतीं। इनके स्थान पर किस प्रकार की व्यवस्था होती इस विषय की केवल कल्पना

ही की जा सकती हैं। अतएव शान्ति और रक्षा का सबसे सुलभ साधन जो अब तक निकाला गया है वह राजनीतिक संगठन है। चूँकि समाज की उन्नति अवनति समय की प्रगति के अनुसार अनिवार्य है इसलिए यह संगठन कभी सुदृढ़ और कभी निर्बल होता रहा है। कभी लोगों ने इसे गौण स्थान देने की कोशिश की परन्तु आज इसका स्थान सबसे ऊँचा है। कोई सरकार न केवल अपने देशवासियों का बल्कि संसार के सभी देशों में रहने वालों का भाग्य-निर्णय कर सकती है। जर्मनी, जापान, अमेरिका, ब्रिटेन, रूस आदि बड़े देश अपनी शक्तियों का उपयोग अपनी ही सीमाओं के अन्दर नहीं करते बल्कि इनकी कार्रवाइयाँ संसार के हर प्रदेश पर गहरा प्रभाव डालती हैं। यह भी सम्भव है कि किसी दिन एक ऐसी सरकार का निर्माण हो जो संसार भर की शान्ति और रक्षा का सूत्र अपने हाथ में ले ले। ऐसी सरकार अपनी निजी शक्तियों से स्थापित हुई तो यह जनता के असन्तोष का एक बहुत बड़ा कारण होगा, परन्तु सर्व सम्मति से इसकी स्थापना होने पर स्थायी शान्ति का अनुभव किया जा सकता है।

बड़े से बड़ा मनुष्य जब अपने स्थान से नीचे आ जाता है तो उसकी शक्ति कम हो जाती है। सम्भव है कुछ लोग उसके प्राचीन गौरव को सामने रखते हुए अपने भावों में कमी न करें; परन्तु एक बहुत बड़ा वर्ग अपने आप को अन्धविश्वास पर नहीं चला सकता। वह उस व्यक्ति की टीका-टिप्पणी करेगा और इस बात की खोज में रहेगा कि कोई दूसरा योग्य व्यक्ति उस बड़े स्थान को ग्रहण कर ले। वर्तमान सरकारों के प्रति भी लोगों का आज यही भाव है। स्थायी शान्ति का कोई रास्ता दिखायी नहीं पड़ता। हर देश की अपनी सरकार है। उसकी शक्ति भी कम नहीं है। फिर भी वह अपने देशवासियों की रक्षा और शान्ति की व्यवस्था करने में अपने को असमर्थ पाती है। वह इस बात की घोषणा नहीं करती कि उसकी शक्ति निर्बल है, परन्तु उसकी व्याकुलता और परेशानियों को देखकर हम स्वयम् इसका अनुभव कर लेते हैं। इस कमज़ोरी को छिपाने के लिए सरकार के पास बहानों की भी कमी नहीं है। वह तो स्पष्ट कहती है कि रक्षा और

शान्ति के अतिरिक्त उसके पास इतने कार्य हैं कि सामाजिक उन्नति के लिए उनका सम्पादित करना अनिवार्य है। मेरी समझ में यह बात नहीं आती कि अपने उद्देश्य से विचलित होने की सरकार को क्या आवश्यकता है? मनुष्य जाति की उन्नति की ठेकेदार बन कर वह अपना और समाज दोनों का गला क्यों घोंट रही है? यदि वह देश को सुरक्षित रख कर शान्ति की उचित व्यवस्था करती रहे तो समाज अपने आप उन्नति के पथ पर चलने के लिए बाध्य होगा। सरकार की इस पथभ्रष्टता और दुराकांक्षा ने आज संसार में अशान्ति का साम्राज्य फैला रक्खा है।

वर्तमान् परिस्थितियों को अलग रख कर हमें प्रजातन्त्रवाद के उस सिद्धान्त पर विचार करना चाहिए जिसने इसे सर्वोपरि बनने का अवसर प्रदान किया है। क्या कारण है कि आज संसार के सभ्य देश "प्रजातन्त्र की रक्षा" के लिए जमीन और आसमान एक कर रहे हैं? सम्भव है इसमें उनका निजी स्वार्थ हो अथवा कोई ऐसी मजबूरी उन्हें लड़ने को बाध्य कर रही हो जो उनकी सामर्थ्य के बाहर हो। एक तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि 'प्रजातन्त्रवाद' का सिद्धान्त उन्हें इतना प्रिय हो कि वे इसकी रक्षा के लिए अपने आप को अर्पित करने पर तुले हुए हों। इस खोज में प्रवेश करने के लिए बहुत बड़ी जानकारी की आवश्यकता है जो इस समय प्राप्त नहीं हो सकती। जब तक चोर किसी की चीज़ चुरा कर ले नहीं लेता तब तक हम उसे दोषी नहीं ठहरा सकते। हमें उसकी नीयत का क्या पता कि वह किस कार्य के लिए कहाँ जा रहा है? इसी प्रकार वर्तमान युद्ध की समाप्ति तक हम निश्चित रूपसे यह नहीं कह सकते कि किस राष्ट्र की क्या मनोवृत्ति है। कहने के लिए तो प्रत्येक देश आज "मानव समाज के कल्याण के लिए" अपने धन और जन को पानी की तरह बहा रहा है।

पिछले अध्याय में इस बात पर विचार किया गया है कि प्रजातन्त्र शासनपद्धति के अन्दर व्यक्ति को हर प्रकार की स्वतन्त्रता मिल सकती है। इसके अनुसार उसे यह कहने का अवसर नहीं रह जाता कि अमुक व्यक्ति वा संगठन उसकी उन्नति में बाधा पहुँचा रहा है। सरकार की टीका-टिप्पणी का

तो प्रश्न ही नहीं उठता। उसका ध्यान बाहरी चकाचौंध से हटकर अपने पास-पड़ोस की उन बातों की ओर जाता है जो उसके दैनिक जीवन से संबंध रखती हैं। उसका जीवन क्रियात्मक और भावुकतापूर्ण हो जाता है। स्वावलम्बन की सभी सामग्रियाँ उसे उपलब्ध होती हैं। अपने कार्यों का उत्तरदायित्व प्राप्त कर वह हर प्रकार से विवेक शील और अनुभवी बनने का दावा करता है। अपनी असफलता का कारण वह अपने ही अन्दर तलाश करता है। इससे उसके अन्दर आध्यात्मिक विचारों की जागृति होती है इसीलिए प्रजातन्त्रवाद और अध्यात्मवाद में एक घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है।

जब तक मनुष्य अपनी अनुभूतियों को बाह्य जगत में तलाश करता है तब तक उसे बारम्बार निराश होना पड़ता है; परन्तु जब उसका ध्यान अन्तर्जगत की ओर जाता है तो उसे शान्ति का अनुभव होता है। वह इस बात पर विचार करता है कि बाह्य जगत हमारी ही आत्मा का प्रतिबिम्ब है। अपने अन्तःकरण में मनुष्य जो कुछ विचार करता है उसी का प्रदर्शन संसार के रूप में उसके सामने मौजूद है। उसे कौतूहल से विचलित और व्याकुल होने की कोई आवश्यकता नहीं है यद्यपि इस गूढ़ तत्व को समझना कोई हँसी-खेल नहीं हैं; परन्तु लगभग सभी महापुरुषों अथवा विचारकों ने इस पर प्रकाश डाला है। कुछ विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि अन्तर्जगत के अतिरिक्त बाह्य जगत की कोई स्थिति ही नहीं है। 'एकोहम् द्वितीयो नास्ति'; श्री शङ्कराचार्य का अद्वैतवाद यह सिद्ध करता है कि बाह्य जगत मिथ्या और कल्पित है। यद्यपि राजनीति-शास्त्र में अध्यात्मवाद के इस गूढ सिद्धान्त को कोई स्थान नहीं है, परन्तु प्रजातन्त्रवाद के अन्दर इसकी व्याख्या अनिवार्य है। दोनों ही व्यक्ति की अनुभूतियों को जाग्रत करने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिए सच्चे प्रजातन्त्रवाद की उन्नति के लिए आध्यात्मिक विचार का अवलम्बन अनिवार्य है। इससे राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र व्यापक और नित्य नवीन रहता है।

प्रत्येक सिद्धान्त के कुछ आधार होते हैं जिन पर उसकी दीवार खड़ी की जाती है। 'दुःख और दुःख से निवृत्ति' यह बौद्ध धर्म का आधार है। निर्वाण, ज्ञान, सन्यास, अनात्मवाद आदि इन्हीं दोनों आधार-स्तम्भों पर खड़े

किये गये हैं। शङ्कराचार्य का अद्वैतवाद दूसरे ही पाये पर खड़ा किया गया है और वह है 'ब्रह्म'। इसी प्रकार प्रजातन्त्रवाद भी किसी न किसी आधार पर खड़ा किया गया है केवल विकास सिद्धान्त की व्याख्या से हम इसे नहीं समझ सकते। समय के प्रवाह में मनुष्य के विचार सुलझते जाते हैं और वह अपनी ग़लतियों को भूलता जाता है। परन्तु इस बीच में कभी-कभी वह ऐसी बातें सोच लेता है जो अब तक की बातों से नयी और ऊँची होती हैं। उस पर विकास सिद्धान्त लागू नहीं। पार करने के लिए कितने ही नाविक प्रयत्न करते हैं। कुछ थोड़ी दूर पर डूब जाते हैं, कुछ लौट आते हैं और कुछ बीच तक पहुँच कर लापता हो जाते हैं। जो समुद्र को पार करते हैं उन्हीं का नाम इतिहास में अमर होता है। परन्तु क्या इनकी यात्रा उस स्थान से आरम्भ हुई थी जहाँ पर अन्य नाविक डूब गये थे? यह भी सम्भव नहीं है कि इन्हें लौटे हुए नाविकों के तमाम अनुभव प्राप्त हो गये हों। फिर विकास सिद्धान्त का प्रश्न कहाँ उठता है? यदि समय के बीतने ही को विकास कहते हैं तो यह बात सच हो सकती है। इसी प्रकार 'प्रजातन्त्रवाद' के अन्दर विकास की अधिक सामग्रियाँ मौजूद नहीं हैं। उसकी दीवार जिस पाये पर खड़ी की गयी है वह किसी विचारक के मस्तिष्क से निकली हुई चीज़ है। औरों ने भी इस पर विचार किया है; परन्तु अभी तक इन विचारों पर सही-सही अमल नहीं किया गया।

प्रजातन्त्रवाद चार पायों पर खड़ा किया गया है। कोई इन्हें अंग कहता है, कोई आधार और कोई अस्तित्व। स्वतन्त्रता, न्याय, समानता और सहिष्णुता यही चारों गुण इस सिद्धान्त के अवलम्ब हैं। प्रत्येक राष्ट्र इस बात का दावा करता है कि उसके अन्दर न्याय की व्यवस्था की गयी है, नागरिकों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है, क़ानून की दृष्टि में सब नागरिक समान हैं और सबके अन्दर सहयोग तथा देशप्रेम की भावना मौजूद है। यदि यह बात सच है तो सभी देशों की सरकार प्रजातन्त्रवादी हैं। जो प्रजा का पूर्ण रूप से हित करे वह प्रजातन्त्र की कोटि में गिना जायगा। परन्तु यहाँ पर एक शंका उत्पन्न होती है और वह यह है "क्या अपने हित के सामने किसी देश

को औरों का हित भी देखना चाहिए !" मान लीजिये, ब्रिटेन की सरकार अपनी प्रजा की भलाई के लिए संसार भर से व्यापार करती है। इसके लिए वह नाना प्रकार की लड़ाइयों और सन्धियों का आश्रय लेती है। उसे एक बहुत बड़े साम्राज्य की भी आवश्यकता है। सम्भव है इससे अनेक राष्ट्रों का हित नष्ट होता हो। तो क्या हम उसे प्रजातन्त्रवादी कह सकते हैं ? वास्तव में उसे 'ब्रिटेनतन्त्रवादी' कहना अधिक उपयुक्त होगा। सिद्धान्त का तात्पर्य अधूरापन नहीं है। प्रजातन्त्रवाद के अन्दर यह बात निर्विवाद है कि एक देश की सरकार दूसरे देश की प्रजा को अपनी प्रजा समझे। यदि वह उसकी उन्नति के लिए कुछ नहीं करती तो उसकी शान्ति और रक्षा में हस्तक्षेप कदापि न करे। प्रजातन्त्रवादी देशों ने भी अभी तक इस सिद्धान्त पर अमल नहीं किया। वे अपने ही देश की प्रजा को सभ्य समझते हैं, बाकी लोग मूर्ख और असभ्य हैं। शान्ति के इस ठोस सिद्धान्त प्रजातन्त्रवाद के अन्दर लड़ाई होने का यही सबसे बड़ा कारण है।

स्वतन्त्रता का अर्थ केवल व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं है। वैसे तो हर मनुष्य सोचने-विचारने, उठने-घूमने तथा कुछ करने के लिए स्वतन्त्र है। इसके लिए किसी सरकारी संगठन की क्या आवश्यकता है ? अपनी स्वतन्त्रता के लिए हमें औरों की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करना चाहिए। एक भूखा मनुष्य अपनी भूख शान्त करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है। उसे यह अधिकार है कि तरह-तरह के उद्योग धन्धों से अपनी जीविका कमावे। चाहे तो वह औरों से माँग कर भी अपनी क्षुधापूर्ति कर सकता है, परन्तु यह मार्ग श्रेयस्कर नहीं है। फिर भी उसकी इस स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं पहुँचा सकता। उसकी आत्मा उसे कोस सकती है और वह आत्मग्लानि का शिकार बन सकता है। परन्तु उसे यह स्वतन्त्रता नहीं है कि किसी के घर में घुस कर अपनी भूख शान्त कर ले। रूस का एक विद्वान लिखा है "भूख को शान्त करने के लिए चोरी करना बुरा नहीं है।" परन्तु भारतीय विद्वान् इससे सह-मत नहीं हैं। गीता में कृष्ण ने कहा है वैरी को पीठ दिखाना और किसी के सामने हाथ फैलाना ये दो कार्य मनुष्य को कभी नहीं करना चाहिए; इस-

लिए स्वतन्त्रता, पर दो बातों का प्रतिबन्ध लगा हुआ है। कुछ तो बाहरी बातें इसे रोकती हैं। समाज में एक दूसरे के हित का ध्यान रखते हुए चलना पड़ता है। किसी को मारना, उसकी चीज़ें छीन लेना, दूसरों को अशक्त करना —इन विषयों में किसी को भी स्वतन्त्रता नहीं है। समाज में इसे रोकने के लिए कितने ही नियम बनाये गये हैं।

स्वतन्त्रता में कुछ आन्तरिक रुकावटें भी हैं। कोई बुरा कार्य करते समय हमारी आत्मा हमें रोकती है, हमारे मन को ग्लानि होती है। मान लीजिये किसी कमज़ोर को हम मार बैठते हैं। बेचारे के पास इतनी शक्ति नहीं है कि वह अपने को बचाये। यद्यपि वह चोट को सहन कर चला जाता है और हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकता फिर भी हमारे हृदय में कुछ ग्लानि कुछ बेचैनी मालूम होनी स्वाभाविक है। हमको बार-बार ख्याल आता है कि बेचारे निरपराध को क्यों सताया। प्रजातन्त्रवाद के अन्दर प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह जो चाहे करे। लेकिन उपरोक्त दोनों प्रतिबन्धों का वह उल्लंघन नहीं कर सकता। इन आन्तरिक प्रतिबन्धों को सब लोग महसूस नहीं कर सकते। कुछ अत्याचारी जीवन पर्यन्त दूसरों को कष्ट पहुँचाते रहते हैं; परन्तु उन्हें पश्चात्ताप नहीं होता। यहाँ तक कि उनका हृदय पत्थर की तरह कड़ा हो जाता है। बुरे-भले का ज्ञान उनमें नहीं रह जाता। जिस समाज में इस प्रकार के व्यक्ति अधिक हों उसमें प्रजातन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती। वह 'वाद' व्यक्ति से यह आशा करता है कि वह संयम और शिक्षा द्वारा स्वतन्त्रता के मूल्य को समझे। जब तक उसके अन्दर विवेक शक्ति का अभाव है तब तक वह स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकता? हो सकता है वह इस अधिकार से अनुचित लाभ उठाये। प्रजातन्त्रवादी देशों ने स्वतन्त्रता के सही अर्थ को हृदयंगम नहीं किया है। इसीलिये वे अपने सुख और साधन के लिये कितनों की स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हैं।

प्रत्येक व्यक्तिकी यह अभिलाषा होती है कि वह अपने विचारों को स्पष्ट करे। कुछ लोग तो केवल शब्दों के स्पष्टीकरण से संतुष्ट हो जाते हैं, पर बाकी इसे कार्य रूप में परिणत करना चाहते हैं। व्यक्ति के विकास के लिये यह स्व-

तन्त्रता आवश्यक है। जब उसे अपनी इच्छानुसार अपना मकान अपनी, संस्थायें तथा अपना संगठन बनाने का अवसर मिलेगा तो वह अधिक अनुभवशील तथा कार्यकुशल होगा। मशीन के पुर्जे की तरह उसे चलाने वाली व्यवस्था अन्त में उसे अपाहिज और निकम्मा बना देगी। इसीलिये प्रजातन्त्रवाद व्यक्तिवादी सिद्धान्त माना गया है। व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरी करने वाली सरकार उतना महत्व नहीं रखती जितना उसे कार्यकुशल बनाने वाली सरकार रखती है। जो सरकार अपने नागरिकों को लूट खसोट द्वारा सुखी और सम्पन्न बनाती है वह प्रजातन्त्रवादी नहीं है। सम्भव है निकट भविष्य में ही वह उन्हें एक बहुत बड़े खतरे में डाल दे। वर्तमान युद्ध यदि 'प्रजातन्त्रवाद की रक्षा' के लिये लड़ा जा रहा है तो इसके अन्दर स्वार्थ की रक्षा को प्रथम स्थान दिया गया है। उन्नतिशील राष्ट्रों को यदि स्वतन्त्रता का मूल्य मालूम है तो वे आपस में मिलकर यह फैसला कर सकते हैं कि कोई एक दूसरे से अनुचित लाभ उठाने के लिये स्वतन्त्र नहीं है। चूँकि हर एक इसका शिकार बना हुआ है, इसलिये वह आगे बढ़ने से हिचकता है। स्वतन्त्रता के पाये पर खड़ा होकर प्रजातन्त्रवाद केवल राष्ट्रीय नहीं रह जाता। इसका क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय दिशाओं में भी फैला हुआ है। जो सरकार इस सिद्धान्त पर बनाई जायगी वह अन्य राष्ट्रों को अपना शत्रु नहीं समझ सकती। ऐसा करने से वह स्वतन्त्रता की अधिक रक्षा कर सकेगी।

जब प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे की स्वतन्त्रता का रक्षक होगा तो यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रजातन्त्रवाद के अन्दर युद्ध का क्या स्थान है? सच पूछा जाय तो प्रजातन्त्रवाद के अन्दर युद्ध की कोई आवश्यकता नहीं है। इससे नागरिकों की स्वतन्त्रता और शान्ति में बाधा पड़ती है। जब स्वार्थ सिद्धि का भाव नहीं रहा तो युद्ध लोगों को महामारी से भी बड़ी विपत्ति मालूम होगी। कोई भी देश इसे पसन्द नहीं कर सकता। यदि प्रजातन्त्रवाद के और अंगों को छोड़ दिया जाय और सभी राष्ट्र केवल स्वतन्त्रता पर जोर दें तब भी संसार का अधिक कल्याण होगा। एक व्यक्ति दूसरे को बाधा नहीं डाल सकता और न एक राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र को धोखा दे सकता है।

इतना ज्ञान समाज के लिये कम लाभदायक नहीं है। आत्म सम्मान और आत्म लाभ के लिये मनुष्य सब कुछ कर डालता है। उसे उचित अनुचित का ज्ञान नहीं रह जाता। स्वतन्त्रता के अन्दर यह गुण मौजूद है जो उसे अनुचित कार्यों से रोक सकती है। इससे उसकी विचार धारा समस्त बुरे कार्यों से फेरी जा सकती है। जब उसे दूसरों से अनुचित लाभ उठाने की स्वतन्त्रता नहीं रही तो स्वाभाविक रूप से वह अच्छे मार्गों का अनुकरण करेगा। इस दृष्टि से प्रजातन्त्रवाद मनुष्य की कुप्रवृत्तियों को दबाने का एक राजनीतिक साधन है।

प्रजातन्त्रवाद का दूसरा पाया न्याय है। इसकी भी व्यापकता स्वतन्त्रता से कम नहीं है। कचहरियों तक ही यह न्याय सीमित नहीं है। जीवन में बहुत थोड़े ऐसे अवसर हमें प्राप्त होते हैं जब कि न्याय कराने के लिये कचहरियों में जाना पड़े। बाकी समय इसका फैसला हमारे रोज के कामों से होता है। कचहरियाँ न्याय की प्रतीक हैं। इससे लोगों को यह लाभ उठाना चाहिये कि वे अपने दैनिक जीवन में न्याय का उलंघन न करें। यह सम्भव नहीं है कि जिले की २० लाख जनता का न्याय एक या दो कचहरियों में किया जाय। केवल बड़े बड़े मामले उनमें फैसल किये जा सकते हैं। जब नागरिकों को कार्य करने, सोचने विचारने तथा संगठन बनाने की स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई तो उनसे यह आशा की जाती है कि वे किसी प्रकार का अन्याय न करें। सरकार स्वयं अपने कार्यों में धनी-ग़रीब, छोटे-बड़े विदेशी तथा स्वदेशी का भाव छोड़कर सबके साथ न्याय बरते। अनुचित लाभ उठाने की प्रवृत्ति मनुष्य के अन्दर नाना प्रकार की बुराइयाँ पैदा करती है। यदि वह अपने हक पर रहना और सन्तोष करना चाहे तो उसे किसी के विरोध की आवश्यकता नहीं है। सरकार और प्रजा में भी मतभेद तभी होता है जब इनमें से किसी के अधिकार व सम्मान का अपहरण किया जाता है।

स्वतंत्र रूप से न्याय की व्याख्या की जाय तो यह प्रश्न और भी सरल हो जाता है। जिसका जो अधिकार है उसे प्रदान करना न्याय कहलाता है। रास्ते में किसी की पड़ी हुई चीज़ हमें मिल जाती है। जब हम उसे अपने

पास रख लेते हैं तो उसका मालिक इस वस्तु से वंचित हो जाता है। यही अन्याय है। जो चीज़ हमारी नहीं है उसे अपने पास रखने का हमें कोई अधिकार नहीं है। यदि उसका मालिक मिल जाय तब तो उसे दे देना चाहिए, परन्तु यह प्रश्न उठ सकता है कि उसके मालिक का पता न लगे तो उस वस्तु को क्या करें ? क्या उसे पानी में फेंक दें अथवा किसी और को दे दें ? ये दोनों रास्ते ग़लत हैं। अकसर देखा जाता है कि रास्ते में पड़े हुये पैसे रुपये को लोग या तो ख़ुद ले लेते हैं अथवा किसी ग़रीब दुखिये को दे देते हैं। मेरी समझ में ये दोनों बातें ग़लत हैं। स्वयं ले लेने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। जो चीज़ उनके परिश्रम से उत्पन्न नहीं हुई है उस पर उनका अधिकार कैसा ! ग़रीब दुखिये को देने वाली बात इसलिये ग़लत है कि अपनी चीज़ें हम दूसरों को भले ही दे दें पर जो चीज़ हमारी नहीं है उसे हम औरों को कैसे दे सकते हैं। तो फिर उस पड़ी हुई चीज़ को क्या करना होगा ? सरकार उस चीज़ की मालिक है। हमें उसे किसी पुलीस वा सरकारी अफ़सर के हवाले कर देना चाहिये। वह इसके मालिक का पता लगाकर उसे दे दे।

कुछ लोग कह सकते हैं कि इसमें न्याय और बुद्धिमानी की क्या बात है ? पुलीस उसे अपने काम में ला सकती है। परन्तु सारी बातों के फ़ैसल करने का हमें क्या अधिकार है ? हम कैसे कह सकते हैं कि पुलीस उस चीज़ को उसके मालिक को दे देगी अथवा अपने काम में लायेगी। यदि वह अपने काम में लाती है तो अन्याय करती है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके बदले हम भी अन्याय करने लगें। न्याय की यह कसौटी बहुत ही उत्तम है कि व्यक्तिगत रूप से हम किसी के अधिकार का अपहरण न करें। प्रजातंत्रवाद के अन्दर नागरिक अपने व्यावहारिक जीवन में न्याय को पूर्ण रूप से अमल करें। अपने कार्यों, विचारों तथा व्यवहारों से हम रोज़ कितने ही आदमियों को चोट पहुँचाते हैं। यह सम्भव नहीं है कि वे इसके लिये कचहरियों का आश्रय लें। कचहरियों का न्याय केवल उन्हीं चीज़ों के लिये है जिनमें व्यक्तिगत प्रभाव की गुंजाइश नहीं रह जाती। सरकार हर व्यक्ति को इतनी शिक्षा देकर इस बात के लिये तैयार कर दे कि वह अपनी

कमाई पर सन्तोष करे। दूसरों की धन दौलत को लेने की अभिलाषा उसे नीचे को गिरा देगी। राजनीतिक क्षेत्र में अपने कर्तव्य का पालन और दूसरों के अधिकारों की रक्षा ही न्याय है। सरकार की जो संस्था जिस कार्य के लिये बनाई गई है उससे किसी को अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिये। नागरिक तथा सरकारी कर्मचारी दोनों ही इस नियम के अन्दर बँधे हुये हैं। व्यावहारिक क्षेत्र में न्याय का पालन हम तब तक नहीं कर सकते जब तक हमारे अन्दर वाणी का संयम तथा सहन शक्ति नहीं है। इसीलिये न्याय का भाव समझने में सरल परन्तु अमल में कठिन है।

न्याय शासन प्रबन्ध का एक आवश्यक अंग है। बड़ी से बड़ी सरकार इसकी अवहेलना नहीं कर सकती। कभी-कभी स्वार्थी राजनीतिक दल शासन की बागडोर अपने हाथों में लेकर इसका दुरुपयोग करते हैं, परन्तु इसका परिणाम भयंकर होता है। या तो देश में क्रान्ति होती है अथवा प्रजा और सरकार में मतभेद के कारण नाना प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। कोई भी उन्नतिशील देश ऐसा नहीं है जिसमें इस तरह के स्वार्थी दल दो चार बार कठिनाइयाँ पैदा न किये हों। ये दल प्रजा पर तरह तरह के अत्याचार करते हैं। शासन में अपनी जमात के साथ पक्षपात करने में ये कोई कोर कसर बाकी नहीं रखते। जितने तरह से वे अनुचित लाभ उठा सकते हैं सब उठाते हैं। और दल वालों के साथ इनका व्यवहार इतना कटु होता है कि देश में ईर्ष्या द्वेष के बादल फैल जाते हैं। सरकारी कर्मचारी इससे और भी अनुचित लाभ उठाते हैं। उन्हें अपनी स्वार्थ पिपासा को शान्त करने का अच्छा अवसर मिलता है। कचहरियाँ इस समय में भी रहती हैं परन्तु उनकी न्याय-दृष्टि संकुचित हो जाती है। जब शासक वर्ग ही स्वार्थ की नीति पर अवलम्बित है तो राजनीतिक संस्थायें अपना कार्य सुचारुरूप से कैसे कर सकती हैं। न्याय की यह अवहेलना केवल क्षणिक होती है। इससे लोक प्रिय शासन विलीन हो जाता है। इसीलिये कहा गया है कि "न्याय शासन रूपी शरीर का हृदय है।"

प्रजातन्त्रवाद के अन्दर सरकार न्याय की रक्षा के लिये क्या कर

सकती है ? यह तो सभी जानते हैं कि न्यायाधीशों को यह आज्ञा रहती है कि वे किसी के साथ पक्षपात न करें। परन्तु न्याय के लिये न्यायालय काफ़ी नहीं हैं। जब तक प्रत्येक व्यक्ति अपना न्यायाधीश नहीं बनेगा तब तक समाज में न्याय नहीं हो सकता। सरकार शिक्षा के अन्दर न्याय सम्बन्धी साहित्य को अधिक से अधिक स्थान दे। जब यह कहा जाता है कि शिक्षा के बिना प्रजातन्त्रवाद सफल नहीं हो सकता तो इसका तात्पर्य यही है कि उस शिक्षा द्वारा नागरिकों को न्याय अन्याय का ज्ञान कराया जाय। केवल लिखने पढ़ने वाली शिक्षा और प्रजातन्त्रवाद से क्या सम्बन्ध हो सकता है। सरकार की नीति का आशय यही नहीं है कि वह चाहे जैसे हो राज्य में शान्ति रक्खे। तलवार और बन्दूक के भय से भी शान्ति स्थापित की जाती है। कुछ सरकारों ने इसका आश्रय लिया परन्तु अन्त में उन्हें निराश होकर हार माननी पड़ी। प्रजातन्त्रवादी सरकार भय और अत्याचार का आश्रय लेकर देश विदेश कहीं भी कोई कार्य नहीं कर सकती। यह नीति उसके सिद्धान्त के विरुद्ध है। लोकप्रिय शासन की नीव प्रजातन्त्रवाद से आरम्भ होती है। जनता को सन्तुष्ट रखने के लिये यह आवश्यक है कि उसके समस्त उचित अधिकार उसे प्रदान कर दिये जायँ। यदि वह इनका दुरुपयोग करती है तो सरकार उसकी व्यावहारिक शिक्षा का प्रबन्ध करे। एवं प्रजातन्त्रवादी होने के नाते उसे कोई और रास्ता नहीं रह जाता। न्याय की रक्षा के लिये वह अत्याचार की शरण नहीं ले सकती। शासनसूत्र प्रजा के हाथ में रहते हुये उसका विकास सरल है। उसे छीन लेने की बात वैसी ही बेतुकी है जैसे एक रोते बिलबिलाते बच्चे के हाथ से खिलौने को खींच लेना।

नवीन सभ्यता का आधार विषमता है। कोई देश ऐसा नहीं जहाँ धनी ग़रीब अथवा छोटे बड़े का प्रश्न न हो। इन्हीं को हल करने में सरकार अपनी सारी शक्तियों का उपयोग करती है। फिर भी यह समस्या और जटिल होती जाती है। अज्ञान के कारण व्यक्ति यह नहीं समझता कि उसकी उन्नति अवनति का सम्बन्ध उसके पड़ोसी से भी है। समाज शास्त्र का यह सिद्धान्त बहुतों के मस्तिष्क में नहीं बैठता और वे जीवन पर्यन्त मनमानी

करते रहते हैं। कुछ सरकारोंने भी अपने आप को व्यक्ति समझ कर दुनिया में मनमानी करने की कोशिश की है पर यह नीति इतनी उल्टी है कि प्रकृति भी यह सहन नहीं कर सकती। मानवता के अटूट सम्बन्ध को सरकारी नियम कदापि नहीं तोड़ सकते। दो देशों की सरकारों में चाहे जितना भी मन मुटाव क्यों न हो जाय, परन्तु उनके अन्दर परम्परागत सांस्कृतिक सम्बन्ध को कोई कैसे तोड़ सकता है। प्रकृति ने समानता की काफी सामग्रियाँ इकट्ठी कर रक्खी हैं परन्तु व्यक्ति अपने आवेश में आकर उनकी परवाह नहीं करता। प्रजातन्त्रवाद के अन्दर उसकी हरकतें और भी स्पष्ट हो जाती हैं। यह शासन प्रणाली समानता के आधार पर खड़ी की गई है। जब तक व्यक्ति के अन्दर इतना विवेक नहीं है कि हमारे विचारों तथा कार्यों का प्रभाव औरों पर भी पड़ता है तब तक वह दूसरों के साथ ठीक व्यवहार नहीं कर सकता। हमारी यह धारणा सरासर ग़लत है कि समाज में सबकी आँख चुराकर हम कोई गन्दा काम कर सकते हैं। मुमकिन है लोग उसे देख न सकें, परन्तु उसका दुष्परिणाम उन्हें अवश्य प्रभावित करेगा। इसीलिये व्यक्तिगत कार्यों और सामाजिक उन्नति का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है।

समाज एक इकाई है। इसकी उन्नति अवनति का हिसाब दो चार व्यक्तियों के उदाहरण से नहीं किया जाता। सार्वजनिक विचार और संस्थायें इस बात का निर्णय करते हैं कि अमुक समाज किस कोटि पर खड़ा है। किसी देश की सारी सम्पत्ति इने गिने दो चार व्यक्तियों के हाथ में आ जाय तो यह उनकी उन्नति का द्योतक नहीं है। इसे समाज का दुर्गुण अथवा कमजोरी कहना अधिक उपयुक्त है। जो देश अपनी सम्पूर्ण जनता की समान उन्नति का विधायक होता है वही प्रजातन्त्र की भावनाओं को जागृत कर सकता है। समानता में ही लोक कल्याण का समावेश माना गया है। यदि हम अपने सुख के लिये नाना प्रकार के उद्योग करते हैं तो हमें यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक प्राणी इसी उद्योग में संलग्न है। जब हम दूसरों से इस बात की आशा करते हैं कि वे हमारे कार्यों में बाधा न पहुँचायें तो हमारा यह कर्तव्य नहीं है कि हम औरों के सुख और शान्ति का अपहरण करें। सम्भव

है इससे हमें सन्तोष अधिक हो और हम अपने आप को औरों से बड़ा बना लें, परन्तु कालान्तर में हमें इसका प्रायश्चित्त तो करना ही होगा। आज हम अपने पड़ोसी की ग़रीबी पर ध्यान न दें और उसे अपनी वृद्धि का साधन बना लें, पर सभी पड़ोसी जब इस कोटि में आ जावेंगे तो हम उन्हें अपना साधन नहीं बना सकते। फिर तो हमी उनके साधन बन जावेंगे। यह तो आर्थिक विषमता की बात रही। इसी तरह बौद्धिक विषमता भी समाज के लिये घातक है। जब किसी व्यक्ति को दूसरों से अनुचित लाभ उठाने का अवसर दिया जायगा तो वह इस प्रलोभन से अपने आप को अलग नहीं रख सकता। कुपरिणामों को जानते हुये भी वह अपनी तात्कालिक वृत्तियों को शान्त करेगा। इसीलिये सामाजिक विधानों में संयम और नियम की आवश्यकता पड़ती है। सरकारी कानून इसे रोकने के लिये काफ़ी नहीं हैं। इस दृष्टि से भारतीय समाज संसार के अन्य समाजों से ऊँचा और उन्नतिशील है। धार्मिक रूढ़ियों और आध्यात्मिक प्रलोभनों से संयम और नियम का भाव भारतीयों में पूर्णरूप से व्याप्त है। यह बात दूसरी है कि कुछ लोग इसे न समझें और कुछ जानते हुये भी अपने भाइयों के साथ विश्वासघात करें।

समानता किसी समाज को ठोस बनाने का सब से बड़ा साधन है। यदि ५ आदमी दो रोटियों को आपस में बाँट कर खालें और उनके पास पेट भरने के लिये अधिक की गुंजाइश न हो तो तब भी उन्हें एक प्रकार का सन्तोष होगा। न तो उनमें किसी तरह का द्वेष होगा और न वे आपस में छीना झपटी करेंगे। जब उन्हें अपनी जीविका की चिन्ता होगी तो उनका सम्मिलित उद्योग उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य करेगा। देश अथवा विदेश कहीं भी जाकर वे अपनी जीविका कमा सकते हैं। लेकिन दो को भूखा रखकर जब तीन आदमी सब रोटी चट कर जाते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि उन दोनों की भूख कैसे शांत हो। उनके उद्योग धन्धों से भी उन्हें पूरा इसलिये नहीं पड़ता कि दूसरे हर स्थान पर उन्हें लूटने की कोशिश करते हैं। विषमता को इतना संगठित रूप प्रदान किया गया है कि सात्विक विचारों को पनपने का अवसर नहीं मिलता। यदि विचार किया जाय तो वर्तमान जीवन

की सभी क्रियायें पैसे के आधार पर चल रही हैं। एक विद्वान् व्यापार भले ही न करे परन्तु उसे भी इस बात की चिन्ता है कि उसकी जीविका का साधन क्या होगा। इसी तरह साधु सन्यासियों तक को अपनी रोटी का प्रश्न हल करना पड़ता है। जब समाज के अन्दर धनी ग़रीब की समस्या स्वाभाविक समझ ली जाती है तो एक दूसरे के साथ छीना झपटी करने में किसी को हिचक नहीं होती। चूँकि वर्तमान सभ्यता इसी पर अवलम्बित है इस लिये शोषण का भाव लोगों को आनन्द देता है। दूसरों को दुखी और ग़रीब देख कर लोगों को यह भय होता है कि वे भी कभी उनकी तरह न हो जायँ। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं है कि अपने भाइयों का दुख कैसे दूर हो और समाज के अन्दर यह गन्दा रवाज़ कैसे जीवित है, वल्कि वे अपनी ही कल्पना में आनन्द लेते हैं।

यह संगठित विषमता, जो समाज में ईर्ष्या और द्वेष फैलाती है, अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का एक अंग वन गई है। आख़िर विदेशियों के अन्दर बड़े-बड़े व्यापार का भाव क्यों आता है? क्या उन्हें यह मालूम नहीं है कि उनके लाभ से दूसरी तरफ़ ग़रीबी और वेकारी फैलती है। इसे जानते हुये भी वे अपनी हालत को सुरक्षित रखने के लिये तरह-तरह के नियम बनाते हैं और अवसर पड़ने पर लड़ाइयों तक के लिये तैयार रहते हैं। यह सारी तैयारी इसीलिये है कि विषमता का विनाश न हो। फिर प्रजातंत्र की बात स्वप्न नहीं तो क्या है। कहाँ सबकी स्वतंत्रता और उन्नति का ध्यान और कहाँ लूट खसोट की क्रियायें—ये दोनों एक साथ कैसे रह सकती हैं। यदि प्रजातंत्रवादी देश शान्ति का साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं तो उन्हें अपना संगठन समानता के आधार पर बनाना चाहिये। हर व्यक्ति यह पूरी तरह समझता रहे कि उसका हित दूसरों के साथ मिला हुआ है। उसकी सम्पत्ति का विकास वहीं तक होना चाहिये जहाँ से वह दूसरों को हानि न पहुँचाये। उसकी विचार धारा सबके साथ मिलकर चलाई जाय ताकि किसी को पीछे रहने का अवसर न मिले। उन्नति के सभी साधन समान रूप से लोगों को दिये जायँ और इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि प्रत्येक इस परिस्थिति में हो कि वह इनसे ठीक

ठीक लाभ उठाये। उस समानता से क्या लाभ जो सबको उन्नति का अवसर नहीं देती। माना कि वर्तमान विश्वविद्यालय और बड़े बड़े व्यापार अमीर ग़रीब सबके लिये समानरूप से खुले हुये हैं, परन्तु क्या कोई ग़रीब आदमी इनसे लाभ उठा सकता है? फिर ऐसी समानता से क्या लाभ? केवल अवसर की समानता तब तक काफी नहीं है जब तक परिस्थितियों की सहायता का ध्यान न रक्खा जाय और सबके लिये उन्नति के कुछ न कुछ साधन प्रदान न किये जायँ।

समानता व्यक्तिगत जीवन के लिये उतना मूल्य नहीं रखती जितना सामाजिक जीवन के लिये। मनुष्य का एकाकी जीवन भूतकाल की एक कल्पना है। उसे हर प्रकार से अपने आप को समाज में ढालना पड़ता है। इसके लिये जो शिथिलता की जाती है वह व्यक्ति और समाज दोनों के लिये हानिकर होती है। यदि थोड़ी देर के लिये व्यक्ति को उसी की उन्नति अवनति तक सीमित कर दिया जाय तब भी समानता का महत्व कम नहीं है। हमारे शरीर के सभी अंगों का विकास समानरूप से होना चाहिये। मस्तिष्क की सारी शक्तियाँ बराबरी के हिसाब से बढ़ें तो हमारे विचार अधिक ठोस और सुलझे हुये होंगे। समाज में कुछ लोग हवाई बातों का ढेर लगा देते हैं। उनकी बातें ऐसी बेतुकी होती हैं कि न तो वे स्वयं उनपर अमल करते हैं और न दूसरे ही उन्हें अमल करते हैं। इसका कारण विचार शक्तियों की विषमता है। उनके मस्तिष्क में समानता के भावों की कमी होती है। तभी वे समन्वय का ध्यान नहीं रखते। भारतीय दर्शन शास्त्र समानता की रक्षा के लिये अनेक नियम प्रतिपादित करते हैं। मन, वचन और कर्म इन तीनों को समान किये बिना मनुष्य सच्चे ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता। जब यह भीतरी समानता स्थापित हो जाती है तो इसका प्रभाव हमारे बाहरी कामों पर भी पड़ता है। जिन कामों को हम अपने लिये अच्छा समझते हैं उन्हें दूसरों को करने का अवसर देते हैं। जो चीजें हमें हानि पहुँचाती हैं उन्हें औरों से भी हम बचाते हैं। जितनी चिंता हमें अपनी उन्नति और अपने सुख की होती है उतनी ही हम दूसरों के लिये भी करते हैं। इसी को समा-

नता कहते हैं। प्रजातन्त्रवाद के अन्दर समानता का आशय केवल अवसर की समानता नहीं है। इसके साथ जीवन की तमाम परिस्थितियों में समानता होनी चाहिये। आर्थिक विषमता समाज को उतनी हानि नहीं पहुँचाती जितनी विचारों की विषमता पहुँचाती है!

सामाजिक प्राणी होने के नाते किसी एक को क्या अधिकार है जो, वह अपने को दूसरों से ऊँचा और बड़ा समझता है। उसकी दुनिया कोई दूसरी नहीं है। जिन बातों से उसे लाभ पहुँचता है वे सबके काम के लिये बनाई गई हैं। अपने कर्तव्यों से कोई बड़ा भले ही बन जाय, परन्तु धोखे और चाल से उसके बड़प्पन का कोई मूल्य नहीं है। समाज में समानता की कमी के कारण मालूम नहीं कितने तरह की गन्दी बातें पैदा होती हैं। ग़रीबी, बेकारी, कुशिक्षा; ईर्ष्या, द्वेष, कलह, युद्ध, आदि सब इसी के परिणाम हैं। सच्चे प्रजातन्त्र के अन्दर विषमता का कोई स्थान नहीं है। पिछले संगठनों से समाज को यह कटु अनुभव हुआ है कि विषमता एक सामाजिक रोग है। बड़ी से बड़ी सभ्यता को नष्ट करने का उत्तरदायित्व इसी को दिया जाता है। समानता को आधार भूत मानकर जो भी राजनीतिक वा सामाजिक संगठन बनेगा वह ठोस और लोकप्रिय होगा। धार्मिक संगठनों में भी इसका मूल्य कम नहीं है। भक्ति मार्ग और बुद्ध धर्म के अन्दर समानता के भाव ओत प्रोत हैं। प्रजातन्त्र भी इसके महत्त्व को कम नहीं मानता। जो देश अपने छोटे-बड़े, नीच ऊँच, तथा धनी-ग़रीब का भेद भाव रक्खेगा वह प्रजातन्त्र-वादी होने का दावा नहीं कर सकता। राजनीति दो चार व्यक्तियों के ठेके की चीज़ नहीं है। देश की सम्पूर्ण जनता का इस पर समान अधिकार प्राप्त है। सामाजिक जीवन में जितने भी साधन उपलब्ध हैं उनका उपयोग हर आदमी समान रूप से कर सकता है। चूँकि अभी तक समानता को कोई वैधानिक रूप प्राप्त नहीं है इसलिये इसे क्रियात्मक बनाने में कठिनाई होगी। प्रजातन्त्र-वाद यदि इसे कार्यान्वित नहीं करता तो उसका एक पाया अत्यन्त कमज़ोर और बेमेल होगा।

सहिष्णुता प्रजातन्त्रवाद का चौथा पाया है। प्रत्येक देश की सरकार

अपने देशवासियों के अन्दर राष्ट्रीयता का भाव भरना चाहती है। देशभक्ति के बिना नागरिकता एक शून्य वस्तु है। चाहे जैसे हो नागरिक को अपने देश के लिये सब कुछ करने पर तैयार होने चाहिये। अपने पड़ोसियों की कठिनाइयों से जिसका हृदय विचलित नहीं हो जाता वह सच्चा देशभक्त नहीं है। तो क्या सहिष्णुता और देशभक्ति एक ही चीज है? जो ऐसा समझते हैं उन्हें प्रजातन्त्र का रहस्य मालूम नहीं है। देशभक्ति का भाव उन देशों में कम नहीं है जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों का गला घोंटते हैं, जिन्हें अपने देश की भलाई के लिये दूसरे देशों को मिट्टी में मिलाना अच्छी तरह मालूम है, और और जो संसार में अपनी सभ्यता वा रहन सहन को सब से ऊँची समझते हैं। इसी को वे देशभक्ति कहते हैं। उनके निवासी संसार के सामने सर नहीं झुका सकते। अपने से बड़े को देखकर देशभक्त का हृदय जल उठता है। राष्ट्रीयता के पतन का मूल कारण यही देशभक्ति है। इसी ने मानवता के दर्जे को छोटा किया है। अपने देश की उन्नति के लिये दूसरों को हानि पहुँचाना देश भक्ति के अन्दर अनुचित नहीं है। बड़े बड़े विचारक और राजनीतिज्ञ इसी में अपना गौरव समझते हैं। प्रत्येक राष्ट्र अपनी उन्नति के लिये साहित्य तैयार कराता है। उसके अन्दर ऐसी ऐसी बातें लिखी जाती हैं जिनसे मनुष्य के विचार विकृत होते हैं। पक्षपात और खींचा तानी करके इतिहास तक को पलट दिया जाता है। कितने ही महापुरुषों को निम्न कोटि के लोगों में रख दिया जाता है। पास पड़ोस के देशों के साथ ऐसे कुत्सित व्यवहार किये जाते हैं कि भविष्य के लिये यह शत्रुता का कारण बन जाता है। इसका नाम देशभक्ति है।

जो देश प्रजातन्त्रवाद का समर्थक है वह देश भक्ति की इस संकुचित भावना को अपने अन्दर स्थान नहीं दे सकता। सहिष्णुता उसे अधिक उपयुक्त प्रतीत होगी। इसके अन्दर वह शक्ति मौजूद है जो मनुष्य को समान रूप से देखती है। कोई वजह नहीं है कि हम दीन दुखियों की दशा पर आँसू न बहावें। सामाजिक व्यवस्था इस बात के लिये उत्तरदायी है कि कोई उन्नति के मार्ग में पीछे न रहे। इसका दोष उस व्यक्ति को न देकर समाज

को ही देना चाहिये। जब हम किसी यात्रा में जा रहे हैं तो हमारे साथ मालूम नहीं कितने आदमी चलेंगे। उनसे हमारा कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है, लेकिन इतना तो मानना ही होगा कि हम सब की यात्रा का उद्देश्य और विधेय एक है। यदि हम सभी आपस में मिलते और हँसते खेलते चलें तो हमारा भार बहुत कुछ हलका हो जायगा। यही हालत समाज की भी है। धर्म के गूढ़ रहस्यों को छोड़ कर जब हम जीवन के उद्देश्य पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि हम सभी एक ही मार्ग के पथिक हैं। यह हमारा अज्ञान है कि किसी के साथ हम अनुचित व्यवहार करते हैं। 'पंडिता सम दर्शिना' के सिद्धान्त को सामने रखते हुये प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को इतना ऊँचा उठाये कि उसे दूसरों की समस्यायें अपनी समस्यायें मालूम हों। समाज से अपने को भिन्न और विशेष समझने वाली प्रवृत्ति व्यक्ति को प्रजातंत्र की ओर नहीं बढ़ा सकती। प्रत्येक परिस्थिति में जब हम अपने को समाज के साथ समझेंगे तभी हमारा राजनीतिक जीवन शान्त और सुखमय होगा।

जिन देशों के पास अतुल सम्पत्ति और साधन मौजूद है उन्हें भी आज लड़ाई में हिस्सा लेना पड़ा है। उनके देशवासियों को जो कष्ट और असुविधायें उठानी पड़ रही हैं उनका पता हमें अच्छी तरह मालूम है। आखिर उनकी इस कठिनाई का क्या कारण है? क्या उनमें देशभक्ति की कमी है? यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनकी इच्छा के विरुद्ध लड़ाई अपने आप चल रही है। इसका मूल कारण व्यापारिक और साम्राज्यवादी नीति के अतिरिक्त प्रजातंत्र की ग़लत भावना है। उनके नागरिकों में सहिष्णुता का अभाव है। वे मनुष्य में भेद की नीति को सामने रख कर अपने राजनीतिक ढाँचे को खड़ा करते हैं। उन्हें यह विश्वास है कि संसार के कुछ देश सभ्य देशों की उन्नति के स्थायी साधन रह सकते हैं। अब तक जिस प्रजातंत्र की दुहाई दी गई है उसके अन्दर इसी प्रकार झूठी विचार धारा का समावेश पाया जाता है। तभी उसकी सफलता में सन्देह का प्रश्न खड़ा होता है। जो सिद्धान्त स्वार्थ और कमज़ोर पाये पर खड़ा किया जायगा उसके गिरने का भय किसे न होगा?

परन्तु प्रजातंत्र की सही-सही व्याख्या करने पर हम देखते हैं कि इसके अन्दर कमज़ोरी की कोई गुंजाइश नहीं है। अभी तक सद्भाव और सहिष्णुता के पाये पर रखकर इसका अमल नहीं हुआ। प्रजातंत्र का एक-एक पाया इतना मज़बूत है कि इसकी सफलता में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिये।

सहिष्णुता की उत्पत्ति मनुष्य के जीवन के साथ होती है। किन्तु इसका विकास उसकी परिस्थितियों के साथ होता है। समाज में कोई दयालु, कोई सत्यवादी, कोई सेवक और कोई त्यागी होता है। इसके विपरीत कुछ लोग बुराइयों की खानि होते हैं। इसका कारण उसका स्वभाव न होकर उनकी वाह्य परिस्थिति है। जिस वातावरण में मनुष्य अपना जीवन निर्वाह करता है उसी के अनुकूल उसे बनना पड़ता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसे अपने जीवन में सफलता नहीं मिल सकती। राजनीतिक संगठन सामाजिक जीवन के लिये एक वातावरण तैयार करता है। यदि सरकार की नीति न्याय और सद्भाव पर आश्रित है तो समस्त नागरिक न केवल अपने देशवासियों के साथ बल्कि विदेशियों के प्रति भी सहिष्णु और दयालु होंगे। उनके मन में यह भाव कभी भी पैदा नहीं हो सकता कि कोई कम्पनी अथवा अन्य व्यापारिक संगठन बनाकर दूसरे देशों से लाभ उठायें। ऐसा करने में उन्हें संकोच और हिचक होगी। आवश्यकता पड़ने पर सेवा और सहायता के निमित्त किसी विदेश में जाकर वे कुछ दिन तक संगठित रूप से कार्य कर सकते हैं। परन्तु इनके कारण कोई राजनीतिक प्रश्न नहीं उठ सकता। इसी सहिष्णुता की कसौटी पर साम्राज्यवाद प्रजातन्त्र के विरुद्ध है। जो देश साम्राज्यवादी हैं वे प्रजातन्त्र के सच्चे समर्थक नहीं हो सकते। थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि किसी पिछड़ी हुई क़ौम को उठाना और संगठित करना बुरा नहीं है तो भी यह प्रश्न उठ सकता है कि इसके अन्दर प्रजातन्त्र की भावनाओं की कितनी रक्षा होती है। क्या पिछड़े हुये लोग हमारी सेवाओं का मूल्य समझते हैं ! क्या उन्हें हमारे जीवन की शान्ति प्रभावित कर रही है ! यदि ये चीजें नहीं हैं तो सेवा का मार्ग लड़ाई झगड़े का कारण बन जायगा।

प्रजातन्त्रवाद के जिन अंगों पर प्रकाश डाला गया है उनका सूक्ष्म

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में एक सा है। सरकार उस मकान की तरह नहीं है जो हर साल गिराया जाय और उसकी जगह नया मकान बना दिया जाय। वह किसी ऐसे सिद्धान्त पर बननी चाहिये जिसमें समयानुसार उन्नति करने की काफी गुञ्जाइश मौजूद हो। तभी इसके आकार में सुन्दरता और सजावट होगी। यह तो निश्चित है कि मनुष्य की अन्तर्राष्ट्रीय पिपासा बढ़ रही है। वैज्ञानिक वृद्धि के कारण उसे यह अवसर प्राप्त है कि वह देश विदेशों से अपने सम्बन्ध को बढ़ाये। अतएव राजनीति में भी इस अन्तर्राष्ट्रीयता का समावेश होना चाहिये। प्रजातंत्रवाद एक ऐसा सिद्धांत है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीयता की सभी सामग्रियाँ मौजूद हैं। कुछ तो ऐसी भी हैं जिनका पूर्ण विकास अपने ही देश के अंदर कदापि नहीं हो सकता। जब हम अपने राष्ट्र में रहकर मनुष्य बनने का प्रयत्न करते हैं तो हमारी सीमा बढ़ जाने पर हमारे गुणों की अधिक परीक्षा होगी। यह हमारा अज्ञान है कि अन्तर्राष्ट्रीय जीवन लोगों की शक्ति को कमजोर बना देगा और उनकी देशभक्ति का मूल्य जाता रहेगा। कोई भी राजनीतिक संगठन जीवन को विकृत और अशांत करने के लिये नहीं है।

क्या प्रजातंत्र के इन अंगों पर विचार करते हुये हम कह सकते हैं कि संसार की प्रगति प्रजातंत्र की ओर है? वैज्ञानिक साधनों और इने गिने अंतर्राष्ट्रीय प्रयत्नों को छोड़कर अभी तक संसार की दृष्टि प्रजातंत्र से दूर है। यद्यपि भविष्य में कोई दूसरा सिद्धांत इसका स्थान ग्रहण नहीं कर सकता परंतु वर्तमान सरकारों को इसका ज्ञान नहीं है। वे जिन संधियों और अंतर्राष्ट्रीय कर्तव्यों को महत्वहीन समझते हैं उन्हीं के द्वारा सच्चे प्रजातंत्र की उनमें वृद्धि होती है। किसी बड़े देश की रक्षा और शांति का उचित प्रबंध हो जाने पर उसमें रहने वाले अपने क्रिया क्षेत्र को शांत और सुरक्षित पाते हैं। तभी उनके अंदर नाना प्रकार के गुणों की जागृति होती है। उनका वह छोटा क्षेत्र एक नन्हा सा प्रजातंत्र है। इसी तरह जब अंतर्राष्ट्रीय जीवन सुरक्षित और लावण्यपूर्ण होगा तो छोटे छोटे प्रजातंत्र राज्यों को अपनी उन्नति का पूरा अवसर प्राप्त होगा। तभी उनकी सफलता की परीक्षा होगी। इस दृष्टि से प्रजातंत्र का मूल्य व्यक्ति है और इसकी अंतिम सीमा अंतर्राष्ट्रीय जीवन का विकास है।

छठवाँ अध्याय

शान्ति के पथ पर

इस समय जब कि संसार में एक ओर युद्ध का नाशकारी दावानल भड़क रहा है, दूसरी ओर युद्ध के बाद निर्माण की चिरस्थायी शान्ति की चर्चा भी जारी है। भिन्न-भिन्न देशों के कर्णधार तथा प्रभावशाली सार्वजनिक नेता गम्भीरता पूर्वक यह विचार कर रहे हैं कि संसार की शान्ति भंग करने वालों को किस प्रकार दबाया जाय और भविष्य में शान्ति की रक्षा के लिए कैसा संगठन तैयार किया जाय। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि महान संकट भी दूर किये जाते हैं। तुलसीदास जी ने इसके निवारण के लिये यदि भगवान का आवाहन किया था[1] तो हम इस वैज्ञानिक युग में अपनी तर्क पूर्ण युक्तियों से इस संसार को शान्तिमय बना सकते हैं। जब कि मनुष्य अपने बौद्धिक चमत्कार से निर्जन आकाश में उड़ सकता है और सीमा रहित अगाध समुद्रों को पार कर सकता है तो अपने रात दिन के रहने वाले स्थान पर शान्ति की योजना बनाना उसके लिये दुःसाध्य नहीं है। जब तक वह इसे साधारण वस्तु समझता है और इसके अभाव में अपने आदर्शों की सफलता की कल्पना करता है तब तक उसे युद्ध से छुटकारा नहीं मिल सकता।

इस संबंध में जब हम तात्विक दृष्टि से विचार करते हैं तो हमको विदित होता है कि हमारी दुनिया सदा से द्वन्द्वमय रही है। इसमें सदा से भलाई-बुराई, सत्य-असत्य, प्रकाश-अन्धकार, न्याय-अन्याय, राग-द्वेष, आदि का जोड़ा रहा है। संसार की कोई घटना, कार्य अथवा वस्तु ऐसी नहीं है

---

[1] जब जब होहिं धर्म की हानी।
बाढ़ैं असुर अधम अभिमानी॥
तब तब राम धरि मनुज सरीरा।
हरैं सदा संतन कैं पीरा॥

जिसमें ये दोनों बातें न पाई जायँ। सर्वथा अच्छी या सर्वथा बुरी वस्तु का मिलना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। इसीलिए कदाचित धार्मिक विचारों के दार्शनिकों ने एक मात्र ईश्वर के दोष-रहित होने की कल्पना की है। जो बात इन तमाम वस्तुओं अथवा कार्यों के संबंध में है वही युद्ध और शान्ति के संबंध में कही जा सकती है। किसी भी समय या अवस्था में संसार का पूर्णतया युद्ध-शील या शान्ति का उपासक हो सकना असम्भव है। एक अँग्रेज़ लेखक के कथनानुसार "जीवन और संघर्ष एक दूसरे के साथ संयुक्त हैं। व्यक्ति, राष्ट्र, विश्व अथवा ब्रह्माण्ड में समतुलन रखने के लिए दो विरुद्ध गुणों या विपरीत केन्द्रों का होना अनिवार्य है। जिस शरीर में संघर्ष का गुण नहीं है वह मृत अथवा सड़ा हुआ है।"

इस सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि में युद्ध अथवा लड़ाई का इतिहास उतना ही पुराना है जितना शान्ति आन्दोलन का इतिहास है। जिस तरह संसार में समय समय पर सिकन्दर, सीज़र, अटिल्ला, तैमूर, चंगेज़खाँ, नैपोलियन, बिस्मार्क का आविर्भाव हुआ है उसी प्रकार बुद्ध, जीनो, सुकरात, ईसा, लिंकन, टालस्टाय और गांधी का भी आविर्भाव हुआ। यद्यपि साधारण दृष्टिकोण रखने वाला एक व्यक्ति इन दोनों में सिवाय विरोध के और कोई भाव नहीं पाता, पर वास्तव में वे एक ही शरीर के दो अंग हैं। मनुष्य युद्ध और शान्ति दोनों धाराओं में होकर बराबर आगे को बढ़ रहा है, किन्तु उसका लक्ष्य एक है। आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध विचारक रोमारोलाँ के मतानुसार, "जो व्यक्ति शान्ति के आदर्श को चूर-चूर करने की चेष्टा कर रहे हैं वे भी दरअसल उसका हित साधन ही करते हैं। प्रत्येक बात एकीकरण के भाव की वृद्धि करने वाली है, चाहे वह बुरी से बुरी हो अथवा अच्छी से अच्छी।" जो लोग लड़ाई के सब से बड़े समर्थक हैं उनका भी कहना है कि लड़ाई का उद्देश्य लड़ाई का अन्त करना ही है। प्रत्येक विश्वविजयी वीर अथवा चक्रवर्ती सम्राट का उद्देश्य सब देशों को जीत कर एक ऐसा साम्राज्य स्थापित करना रहा जिसमें सब लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हुए बिना लड़ाई झगड़े के मेल से रहें। इस दृष्टि से उसमें और एक शान्ति-प्रचारक

में थोड़ा ही अन्तर है। रास्ता एक बिल्कुल दूसरे से उलटा होते हुए भी वे एक ही मुक़ाम पर पहुँचते हैं।

युद्ध और शान्ति के इस आश्चर्य जनक सामंजस्य पर विचार करने के उपरान्त जब हम आगे बढ़ते हैं तो दूसरी महत्वपूर्ण बात यह विदित होती है कि समय की गति के साथ-साथ युद्ध और शान्ति का स्वरूप भी बदल जाता है। एक ज़माना था जब लोग अपने छोटे से प्रदेश अथवा नगर या गांव को ही अपना राष्ट्र समझते थे और उनकी रक्षा या प्रतिष्ठा के नाम पर हमेशा एक दूसरे को छोटा दिखलाने की कोशिश करते थे। उस समय के लोगों की राष्ट्रीयता की सीमा दस-बीस या सौ-पचास मील के भीतर ही सीमित थी। अपने से दस-बीस घंटे की यात्रा की दूरी पर रहने वाले भी उनके लिए परदेशी थे, जिनके साथ वे इच्छानुसार युद्ध-विग्रह कर सकते थे। पर मानवीय सभ्यता और ज्ञान के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीयता की हद बढ़ती गई। अब करोड़ों व्यक्ति अपने को एक राष्ट्र के झंडे के नीचे समझते हैं और आपस में लड़ना अपने ही लिए घातक मानते हैं। इस प्रकार हजारों भिन्न-भिन्न परस्पर विरोधी दलों के स्थान पर आज समस्त संसार युद्ध-विग्रह की दृष्टि से केवल दो चार भागों में विभक्त रह गया है। आज हम योरोपियनों और एशिया वालों गोरी, काली और पीली जातियों, साम्यवादियों और साम्राज्य वादियों की कलह की बातें करते और सुनते हैं। सन् १९१४ के महायुद्ध में संसार के बहुत बड़े क्षेत्रदल के निवासी दो दलों में विभक्त होकर लड़े थे। वर्तमान महायुद्ध में सिर्फ़ दो-चार छोटे देश ऐसे बचे हैं जो दो में से किसी एक दल में शामिल नहीं हैं। इस तरह हम यह कह सकते हैं कि अब संसार हज़ारों युद्ध शील भागों में बँटे होने के बजाय केवल दो भागों में बँट गया है। यदि यह एकीकरण इसी प्रकार आगे बढ़ता रहा तो सम्भव है किसी दिन यह एक विश्व-राष्ट्र के रूप में परिणत हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो युद्ध और शान्ति की वर्तमान परिभाषा बिल्कुल बदल जायगी, इसमें सन्देह नहीं।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि आज हम जिस शान्ति-आन्दोलन की बात सुन रहे हैं वह कोई बिल्कुल नई या अभूतपूर्व चीज़ नहीं है। पहले कई दो

वर्षों में योरोप में कितनी ही बार ऐसी कोशिश की गई है। विलियम द्वितीय ने 'युनाइटेड स्टेट्स आफ़ योरोप' की कल्पना की थी; हैनोटाक्स ने 'योरोपियन कानफिडेरेशन' की योजना प्रस्तुत की थी; और ओसवाल्ड तथा हैकल ने "सोसाइटी आफ़ स्टेट्स" के निर्माण की चेष्टा की थी। पर जैसा आज दिखाई पड़ रहा है, इन सब में भी किसी एक शक्ति या ख़ास दल का स्वार्थ प्रमुख था और इसी से किसी को सफलता प्राप्त न हो सकी। सन् १६१६ ई० में भी कहने को 'राष्ट्र-संघ' का जन्म संसार में शान्ति स्थापित करने को हुआ और वह लगातार १५-१६ वर्ष तक तरह-तरह के मसौदे और समझौते की योजनायें बनाकर संसार के विभिन्न राष्ट्रों में मेल बनाये रखने की चेष्टा करता रहा; पर अन्त में उसकी उपहास्यास्पद स्थिति हमारे सामने मौजूद है। कारण यह है कि उसकी स्थापना वास्तव में न्याय और सत्य के सिद्धान्तों की रक्षा के लिए नहीं वरन् शक्तिशाली राष्ट्रों के एक ख़ास दल के स्वार्थ की रक्षा के लिए की गई थी। इस बात को कुछ समय पहले लंदन के 'न्यू स्टेट्समैन और नेशन' पत्र ने बहुत स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया था—"प्रत्येक राष्ट्र राष्ट्र-संघ को अपने सांचे में ढालना चाहता है। वह अपने स्वार्थ को दृष्टि में रखते हुए उसके द्वारा काम बनाता या उसकी उपेक्षा करता है।" इसी बात को भारतीय विद्वान सर राधाकृष्ण ने और भी प्रभावशाली ढंग से प्रगट किया था; कि, "केवल ज्ञान के फैलने या असलियत के समझ जाने से बन्दूक़ की एक भी गोली को नहीं रोका जा सकता। हम शान्ति की बड़ी-बड़ी बातें तो करते हैं, पर जोश में अन्धे जन-समूह की उत्तेजना अथवा झूठे राष्ट्रीय अहंकार के सहज ही में वशीभूत हो जाते हैं। जो लोग शान्ति के उपासक हैं, जो सामाजिक प्रगति में विश्वास रखते हैं, और जो मनुष्य मात्र में भ्रातृ-भाव के सिद्धान्त के अनुयायी हैं, उनमें शुष्क ज्ञान से ही काम नहीं चल सकता; वरन् उनमें अपने आदर्शों के लिए कष्ट सहन का नैतिक बल भी होना चाहिए। हम राष्ट्र-संघ के भीतर बैठकर शान्ति की दुहाई देते हैं, पर बाहर आकर सुधारों में बाधा डालते हैं, निःशस्त्रीकरण में विलम्ब करते हैं और सब प्रकार के उदार विचारों का विरोध करते हैं।"

शान्ति के विरोधी अपने दोष को छिपाने के लिए प्रायः अपने राष्ट्र की रक्षा का बहाना पेश किया करते हैं कि हमारा निर्दोष और किसी का अहित न करने वाला देश चारों ओर शत्रुओं से घिरा है और उनसे आत्म-रक्षा करने के लिए हमें लड़ाई का सामान जुटाना चाहिए। अगर फ्रांस जर्मनी के भय से युद्ध की तैयारी करता है, तो जर्मनी रूस से आत्मरक्षा करने का कारण पेश करता है और रूस जापान की तरफ अंगुली उठाता है। इस तरह समस्त संसार में एक ऐसा शैतानी-चक्र चल रहा है कि उसके रहते हुए किसी भी देश को निःशस्त्र अथवा सेना घटाने को राजी कर सकना असम्भव है। इसके फल-स्वरूप हम इतनी कान्फ्रेंसों और पैक्टों के होते हुए भी शस्त्रास्त्रों की भयंकर बाढ़ और युद्ध की भयंकरता दिन पर दिन बढ़ते हुए देख रहे हैं। वास्तव में विश्वास की उत्पत्ति विश्वास से ही हो सकती है। विभिन्न राष्ट्रों की सेनाओं और हथियारों को मिटाने के पहले हमको उनके हृदयों से लड़ाई के भाव को दूर करना होगा।

हम यह स्वीकार करते हैं कि वर्तमान अवस्था में विश्व-व्यापी महायुद्ध का होना अनिवार्य था। बिना इस युद्ध के संसार में स्थायी अथवा दीर्घकालीन शान्ति की आशा दुराशा मात्र है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि जिस प्रकार युद्ध की तैयारी और भयंकरता बढ़ती जाती है, उसी तरह संसार में शान्तिवादियों का एक समूह भी निरन्तर बढ़ रहा है। इनमें कितने ही विचारों के लोग पाये जाते हैं। कुछ मानवता के गौरव के विचार और राष्ट्रीयता के कारण युद्ध को निन्दनीय समझते हैं, कुछ उसे युग-धर्म के विपरीत और समाज के लिए हानिकारक मानते हैं, और कुछ धार्मिक कारणों से उसके विरोधी हैं। पर सब का आशय यही है कि युद्ध सब प्रकार से अनुपयोगी और बुरे हैं और इनसे मनुष्य का अपकार ही होता है। युद्ध मनुष्य की सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान के लिए कलंक रूप हैं। प्रत्येक समझ-दार व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह युद्ध को रोकने, उसके भाव की जड़ उखा-ड़ने की चेष्टा करे।

जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं, युद्ध के निराकरण और शान्ति की

स्थापना का यह आन्दोलन नया नहीं है। बहुत पुराने ज़माने की बात छोड़ भी दी जाय तो इन दिनों भी यह गत महायुद्ध के समय से जारी है और दिन पर दिन बढ़ता जाता है। युद्ध काल में ही आस्ट्रिया की राजधानी वियेना में एक संस्था सभ्यताओं का अध्ययन करने के उद्देश्य से स्थापित की गई थी। उसने अपने कार्यक्रम और उद्देश्यों के सम्बन्ध में जो वक्तव्य प्रकाशित किया था उससे आधुनिक शान्ति—आन्दोलन का मर्म अनेक अंशों में समझा जा सकता है:—

"वर्तमान युग की सब से बड़ी घटना एक विश्वव्यापी सभ्यता का आविर्भाव है। यह नवीन सभ्यता प्राचीन काल से हमको प्राप्त होती आई विभिन्न सभ्यताओं के सम्मेलन से उत्पन्न हुई है। किसी भी प्राचीन युग में इस संबंध में मनुष्य जाति को ऐसी ज़बर्दस्त प्रेरणा प्राप्त नहीं हुई थी जैसी कि इधर कई सौ वर्षों से हो रही है और विशेष-रूप से जिसे हम इस समय प्राप्त करने लगे हैं। राज्य, विज्ञान और कला आदि सर्वत्र विश्व-व्यापी मानव समाज का विकास हो रहा है। सर्वत्र विश्व-व्यापी मानवकी भावना नवीन रूप में जन्म ले रही है। तीन आध्यात्मिक और सामाजिक जगत (अर्थात् योरोप और निकट पूर्व, भारतवर्ष और सुदूर पूर्व) एक ही मानव जाति का निर्माण करने को सम्मिलित हो रहे हैं। दो पीढ़ी पहले कोई भी व्यक्ति मानव-जाति की एक ही शाखा का सदस्य होता था, पर अब यह समस्त मानव जाति के एक विशाल समूह में सम्मिलित हो रहा है। अब उसे अपने कार्यों का निर्णय उस महान समूह के नियमों के अनुसार ही करना चाहिए और उसमें अपना स्थान ढूँढ लेना चाहिए। यदि वह ऐसा न करेगा तो वह अपने सर्वोत्तम अंश को खो बैठेगा। निस्सन्देह भूत काल की वास्तविक महत्त्वपूर्ण बातें उसके धर्म, उसकी कला, उसके विचारों के लिए आशंका का कोई कारण नहीं हैं। ये स्थिर हैं और आगे भी स्थिर रहेंगी। परन्तु इनको एक नवीन रूप में ऊँचा उठाना है, इनकी नींव को और भी गहरा बनाना है। हमारे सामने जीवन का एक अधिक विस्तृत क्षेत्र खुल रहा है। हमको इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि इन बातों से कितने ही लोगों को

चक्कर आने लगता है और वे समझते हैं कि भूतकाल का बड़प्पन नष्ट हो रहा है। हमको अपना सूत्रधार उन्हीं को बनाना चाहिए जो पूर्ण योग्य हों और धैर्य तथा दृढ़ता के साथ नये युग के लिए तैयारी कर सकें।......हमको ऐसी हर एक बात को दूर करना होगा जिससे विभिन्न राष्ट्रों, श्रेणियों और जातियों में घृणा पैदा हो, जिससे भेद भाव और निरर्थक कलह की वृद्धि हो। जो लोग इस काम को हाथ में लें उन्हें सब से अधिक घृणा, अज्ञान और एक दूसरे को न समझने की प्रवृत्ति से संग्राम करना होगा। उनका महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय काम यह होगा कि प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र में पाई जानेवाली अच्छी बातों को प्रकाश में लावें। उनका व्यावहारिक काम ऐसे विज्ञानानुकूल साधन ढूँढ़ना होगा जिससे राष्ट्रों, श्रेणियों और जातियों के बीच पाये जाने वाले भेद-भाव नष्ट हो जायँ। विज्ञान, केवल विज्ञान ही कठिन परिश्रम द्वारा शान्ति की स्थापना कर सकने में समर्थ हो सकता है।"

गत महायुद्ध के पश्चात् से यह शान्ति-धारा बराबर आगे बढ़ रही है और उसका विकास होता जाता है। उपरोक्त उद्धरण में जहाँ पाठकों को शान्ति की आवश्यकता और महत्त्व के बारे में कुछ आशापूर्ण उद्गार और सदिच्छा ही दिखलाई पड़ती है वहाँ आज के शान्ति-प्रचारक इस विषय पर पूर्ण व्यावहारिक दृष्टि से विचार करते हैं। वे वास्तव में वैज्ञानिक दृष्टि से उसके कारणों की खोजकर उनके प्रतिकार की व्यावहारिक योजना प्रस्तुत करते हैं तथा उस योजना को सफल बनाने के लिए प्रभावशाली संस्थाएँ स्थापित करते हैं। इन सब में अग्रगामी और अपने विचारों को अधिक से अधिक कार्यरूप में परिणत करने वाले कुछ साम्यवादी विचारों के सज्जन हैं। उनके विचारानुसार युद्ध का मूल कारण संसार में प्रचलित पूँजीवाद है और उसके प्रतिकार का उपाय श्रमजीवियों का जागरण और संगठन है। इन विचारों को प्रगट करते हुए एक विद्वान भारतीय साम्यवादी श्री मेनन ने युद्धों को रोकने और शान्ति की स्थापना के सम्बन्ध में कहा है :—

"यह साफ़ ज़ाहिर है कि पूँजीवाद में बार-बार युद्ध होते रहने की सम्भावना बहुत अधिक परिमाण में पाई जाती है। ऐसी दशा में जब कोई

एक नवीन सामाजिक संगठन की आवश्यकता स्वीकार करेंगे और इस सम्बन्ध में साम्यवाद का नाम आज कल सब की ज़बान पर है। साम्यवाद और युद्ध एक स्थान में ठहर ही नहीं सकते। पर कुछ ऐसे भी साम्यवादी हैं जो समझते हैं कि साम्यवाद की स्थापना बिना एक और विश्व-व्यापी महायुद्ध के नहीं हो सकती और यह महायुद्ध पूँजीवाद के जनाज़े की आख़िरी कील होगी। यह विचार एक ग़लत धारणा से पैदा हुआ है। साम्यवाद से युद्ध की समस्या हल हो सकती है, पर युद्ध से साम्यवाद की समस्या की पूर्ति नहीं हो सकती। साम्यवाद का अर्थ एक ऐसी आर्थिक प्रणाली का प्रचार करना है जो शोषण के अभिशाप का अन्त और दरिद्रता के पाप को दूर कर देगी। पर इस रचनात्मक कार्य को तब तक आगे बढ़ाना और सफल बना सकना असम्भव है जब तक कि हमको ऐसे युद्ध का भय लगा हुआ है जो अब तक के तमाम प्रयत्न पर पानी फेर देगा। जो लोग युद्ध द्वारा दुनिया की बरबाद हालत के ऊपर साम्यवाद का भवन निर्माण करना चाहते हैं वे अवश्य ही विवेकशून्य हैं। जिस समय पृथ्वी ज़हरीली गैस से मृत्यु की रंगस्थली बनी होगी, नगर खंडहर हो गये होंगे और संसार की आधी जनसंख्या रोग और भय के मारे बदहवास हो रही होगी, उस समय कोई भी रचनात्मक कार्य किया जा सकना असम्भव है। इससे अच्छी तरह समझा जा सकता है कि जब तक हम युद्ध को रोकने का कोई पक्का इंतज़ाम नहीं कर लेते तब तक हमारा समस्त सामाज़िक कार्य-क्रम बहुत ही कच्चे आधार पर बना है और किसी भी समय युद्ध के फल स्वरूप सचमुच चूर-चूर हो सकता है। इससे हमको विदित होता है कि जिस साम्यवाद का आधार फ़ौजी संगठन है उसे बारूद खाने के ऊपर स्थित समझना चाहिए·· ········'इसलिए हमको सदैव शान्ति के लिए निश्चयात्मक रूप से चेष्टा करनी चाहिए।"

अन्य शान्ति-प्रचारक इस समस्या का विश्लेषण दूसरे रूप से करते हैं। उनके मतानुसार संसार के विभिन्न भाग अब आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे पर इस प्रकार आश्रित हो गये हैं कि सारी दुनिया एक ही देश की तरह हो

गई है। एक भाग की आर्थिक हलचल का प्रभाव एक-दूसरे पर तुरन्त पड़ता है। अगर अमेरिका या कनाडा में गेहूँ की फ़सल ख़राब हो जाती है तो उसका असर पंजाब की मंडियों पर भी उसी समय पड़ता है। भड़ौंच और बम्बई के रुई-बाज़ार का नियंत्रण न्यूयार्क के भावों से होता है। ऐसी दशा में संसार के किन्हीं दो भागों में उत्पन्न हुए झगड़े का निपटारा प्राचीन काल की प्रथा के अनुसार युद्धद्वारा करना गृह-युद्ध के समान हानिकारक है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमको इस समय सभी देशों में दिखलाई पड़ रहा है। हर एक देश में चाहे वह प्रत्यक्ष रूप में लड़ रहा है या नहीं, जीवन निर्वाह की सामग्री बड़ी कठिनाई से और महँगे भाव में मिलती है, जिसके फल से साधारण जनता त्राहि-त्राहि कर उठी है।

विश्व-व्यापी शान्ति का समर्थन करने वालों का एक और भी दल है जो आधुनिक युद्ध-प्रणाली की भयंकरता का स्मरण करके युद्धों को रोकने का प्रयत्न करता है। इस विचार वालों का कहना है कि अब लड़ाई की विद्या की इतनी उन्नति हो गई है कि जो देश पहले हमला कर देगा वही दूसरे का नाश कर डालेगा, अथवा यदि सब कोई एकही समय में युद्ध आरम्भ करें तो सभी नष्टभ्रष्ट हो जायंगे। इस सम्बन्ध में कुछ वर्ष पूर्व जगत-प्रसिद्ध लेखक श्री एच० जी० वेल्स ने रेडियो पर भाषण देते हुए लोगों को चेतावनी दी थी कि इस समय विज्ञान की जो उन्नति हो रही है वह आश्चर्य जनक है, पर उससे लाभ उठाने के लिए हमको संगठित रूप से दूरदर्शिता प्राप्त करने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा था:—

"विज्ञान से केवल यही नहीं होगा कि मनुष्य घण्टे ही में कहीं भी पहुँच जाय, या अपने दूर बैठे मित्रों को देख सके तथा बातचीत कर सके। विज्ञान की सहायता से मनुष्य उन लोगों के पास भी तुरंत ही पहुँच सकते हैं जिनको वे शत्रु समझते हैं। क्या आप जानते हैं कि वह समय कितना दूर है जब कि मनुष्य स्फोटक पदार्थों, ज़हरीली गैस, आग लगाने वाले मसाले या ऐसी ही किसी दूसरी छोटी सी चीज़ की पार्सल बनाकर आसमान में भेज देगा और दुनिया के जिस मुक़ाम पर चाहेगा पहुँचा कर उसे गिरा देगा! मैं तो

समझता हूँ कि इस तरह की संभावना के कार्यरूप में परिणित होने में बहुत समय नहीं लगेगा। हमारे फ़ौजी लोग तो अभी बीस मील या कुछ ज़्यादा दूर वाली तोपों को ही लेकर बैठे हैं। अथवा वे उन हवाई जहाज़ों पर भरोसा करते हैं जिनको किसी ख़ास मुक़ाम तक पहुँचने के लिए दुश्मन के हवाई जहाज़ों और तोपों की मार में होकर गुज़रना पड़ता है। पर कोई यह नहीं समझता कि ये चीज़ें आक्रमण की शक्ति के भयंकर रूप धारण कर लेने के आरम्भिक चिह्न हैं। भविष्य में हवाई टारपीडो जहाज़ों का विशेष रूप से आविर्भाव होगा। ये टारपीडो कहीं भी बम, गैस या आग को पहुँचा सकेंगे। अगर हम युद्ध की समस्या का साहस-पूर्वक निर्णय न कर सके तो हमारी समस्त उन्नति का एक दिन अवश्य यही परिणाम होगा।"

पर साथ ही यह भी भावना प्रकट की जा रही है कि यही वैज्ञानिक आविष्कार युद्ध को असम्भव कर देंगे, संसार के लोगों को एकसूत्र में आबद्ध कर देंगे और पृथ्वी को स्वर्ग बना देंगे। श्री कामेडोन योरोप के एक बहुत मशहूर मोटर दौड़ाने वाले हैं। उनका जीवन मोटर को ज़्यादा से ज़्यादा तेज़ी से चलाने और उसके रिकार्ड तोड़ने में ही व्यतीत हुआ है। उन्होंने थोड़े ही दिन हुए एक पत्र प्रतिनिधि से कहा था:—

"मैं इस बात पर तो विश्वास करता हूँ कि प्रत्येक राष्ट्र को अपना व्यक्तित्व स्थिर रखना चाहिए, पर विभिन्न जातियों में घनिष्ट परिचय हो जाने से और उनमें मित्रता का भाव उत्पन्न हो जाने से जो असीम लाभ होगा उसे भी दृष्टिगोचर रखना आवश्यक है। राजनीतिज्ञ लोग चाहे जितना परिश्रम करें, पर ऐसा घनिष्ट परिचय तभी होगा जब कि बालहम (इंग्लैंड) के मिस्टर 'क' बर्लिन, पेरिस, रोम, न्यूयार्क को उसी तरह जल्दी और हिफ़ाज़त के साथ और थोड़े वक्त में जा सकेंगे जैसा कि आज के अपने यहाँ से पचास मील पर बसे क़स्बे ब्राइटन में अपने मित्र मिस्टर 'ख' को देखने चले जाते हैं। गति एक ऐसी चीज़ है जो संसार में नवयुग ला सकती है।"

यद्यपि इस समय अपनी आँखों से विश्व-व्यापी नरमेध को देखते हुए ये बातें ख़याली पुलाव ही जान पड़ती हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि संसार में

रहने वाले मनुष्यों को आत्मरक्षार्थ युद्धों को रोकने और शान्ति बनाये रखने के किसी-न-किसी उपाय का अवलम्बन जल्दी या देर में करना ही होगा। और सच पूछा जाय तो विज्ञान के सामने असम्भव तो कोई चीज़ है ही नहीं। अब से पचीस-तीस साल पहले कौन कल्पना कर सकता था कि थोड़े ही समय में हज़ारों विमान् आसमान में उड़ते फिरेंगे और युद्ध अथवा शान्ति दोनों अवस्थाओं में उनका इतना महत्व होगा ? यह भी कौन कह सकता था कि ज़हरीली गैस और रसायनिक पदार्थों से भरे बमों के तैयार हो जाने से युद्ध की काया ही पलट जायगी ? इसलिए भविष्य में कौन-सा नया आविष्कार अकस्मात् ही संसार की अवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर देगा, यह कह सकना कठिन है। चाहे वर्तमान राजनीतिक वातावरण कैसा भी अन्धकार पूर्ण और निराशा-जनक क्यों न जान पड़ता हो, पर अगर विकास का नियम सत्य है और उसके फलस्वरूप आज हम मनुष्य-जाति को सौ-सौ दो-दो सौ लोगों के पृथक पृथक फिरकों या समूहों में बँटे होने के बजाय साम्राज्य के रूप में पचास-पचास करोड़ व्यक्तियों को एक ही संगठन में देख रहे हैं तो कोई कारण नहीं कि एक दिन ऐसा भी न आये जब समस्त संसार एक ही सूत्र में आबद्ध हो जाय। ऐसी अवस्था आने पर उसका प्रभाव हमारे रहन-सहन, सामाजिक नियम, साहित्य, धर्म आदि पर कैसा पड़ेगा। ये बातें विशेष महत्व नहीं रखतीं और इन पर विचार करना भावी संतान का ही काम होगा। पर हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उस समय युद्ध का अन्त अवश्य हो जायगा, अथवा कम से कम उसका वर्तमान नाशकारी रूप अवश्य ही बदल जायगा।

इन सब बातों को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि संसार के विचारशील पुरुषों का ध्यान अब संसार की शान्ति की ओर बहुत अधिक आकर्षित हुआ है, और ऐसा होना ही चाहिए। जब गर्मी की अधिकता से संसार तप उठता है, पृथ्वी जलता हुआ अंगारा बन जाती है, वृक्ष झुलस उठते हैं, जलाशय सूख जाते हैं और मनुष्य, पशु, पक्षी तथा संसार के सभी जीव गर्मी की अधिकता से व्याकुल हो उठते हैं; उस समय संसार के रहने वाले जीवों

को इस गर्मी के कष्ट से बचने का एक ही उपाय समझ में आता है और वह है वर्षा का आह्वान। प्रकृति का नियम भी कुछ ऐसा ही चलता हुआ नज़र आता है, कि जब जिस वस्तु की अत्यन्त आवश्यकता होती है उसको प्रकृति तुरन्त संसार को देती है। कभी कभी वह अपने नियम के पालन में असावधानी भी करती है। किन्तु जब वह असावधानी करती है तो संसार में हाहाकार मच जाता है और लाखों मनुष्यों, पशुओं तथा अन्य जीवों का संहार हो जाता है। आज बंगाल आदि के कृत्रिम अकाल जिसमें हज़ारों मनुष्य, बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री और पुरुष भूख की भयंकर पीड़ा से तड़प कर अपनी प्यारी जान दे रहे हैं, इसी बात की सूचना दे रहे हैं कि संसार को शान्ति की आवश्यकता है। लाखों मनुष्यों और पशुओं का बलिदान संसार के भयंकर महायुद्ध में हो रहा है। यह प्रकृति की अवहेलना नहीं तो और क्या है!

ऐसे कृत्रिम प्रलय के समय, कृत्रिम इसलिये कि यह युद्ध मनुष्यों की अज्ञानता और स्वार्थ से छिड़ा हुआ है, यदि विश्व-शान्ति की सदिच्छा विचारशील और दयालु पुरुषों के हृदय में जागृत हो उठी है, तो यह उचित ही है। इस अध्याय में आपको शान्ति की ओर चलने वाले विद्वानों, संस्थाओं और विचार धाराओं का बहुत कुछ परिचय मिल चुका, किन्तु यदि हम आपका ध्यान संसार के दो और महापुरुषों के कार्यों की ओर नहीं आकर्षित करते, तो हमारा अध्याय अधूरा रह जाता है। ये दोनों महापुरुष हैं अमेरिका के मि० डब्ल्यू-विल्की और भारत के महात्मा गांधी।

मिस्टर विल्की बहुत ही विचारशील और सहृदय पुरुष हैं। आप प्रेसीडेंट के अन्तिम चुनाव में मि० रूजवेल्ट के ख़िलाफ़ खड़े हुए थे। यद्यपि इस चुनाव में आप सफल नहीं हुए, पर इसमें शक नहीं कि आप अमेरिका के बड़े ही प्रतिष्ठित विद्वान हैं। हाल में आप ने संसार की यात्रा इसलिए की, कि वे स्वयं सब देशों की हालत अपनी आँखों से देखें, उन देशों के नेताओं, विद्वानों और साधारण जनता से मिलकर उनके विचारों, आकांक्षाओं और मनोभावों का अध्ययन करें। आप भारतवर्ष में न आ सके, मालूम नहीं

इसका कारण समयाभाव था, अथवा यहाँ के अधिकारी वर्ग उनका इस समय इस देश में आना उचित नहीं समझते थे, पर इसमें सन्देह नहीं कि जो रिपोर्ट परतंत्र राष्ट्रों के संबंध में आपने दी उसमें भारत की उचित आकांक्षाओं और राजनीतिक अधिकारों का भी समुचित समावेश था।

आपने अपनी हाल की एक पुस्तक में लिखा है कि संसार के अन्य देशों को इंग्लैंड के साथ में रहने से हानि है, क्योंकि इंग्लैंड दूसरों के ही सहारे जीवित है और इसलिए वह दूसरे देशों का आर्थिक शोषण करता रहेगा। इंग्लैंड की इस नीति से संसार में सदैव अशान्ति बनी रहेगी। आप कहते हैं संसार के अन्य देशों को अमेरिका के साथ सहयोग करके रहना चाहिए, इससे उन देशों की हानि नहीं हो सकती। इसके सबूत में आप कहते हैं कि अमेरिका धनाढ्य देश है, उसे कच्चे माल और धन दौलत की आवश्यकता नहीं है, इसलिए वह शोषण नीति का सहारा नहीं लेगा बल्कि स्वयं उनकी सहायता करेगा। मैं यह मानता हूँ कि विल्की साहब बहुत ही सज्जन और उदार पुरुष हैं, उनकी नेकनीयती और ईमानदारी में संदेह करने की गुंजाइश नहीं है, पर इस बात का क्या प्रमाण है कि अमेरिका के अधिकारी वर्ग और पूँजी-पति भी इनके विचारों का आदर कर उनका ठीक पालन करेंगे। दक्षिणी अमेरिका के देशों से अभीतक अमेरिका की यह सद्भावना कार्य रूप में परि-णत नहीं हुई, यद्यपि वर्तमान युद्ध ने उसे पहले की अपेक्षा दक्षिणी देशों के प्रति अब अधिक उदार बना दिया है। क्या विल्की साहब से हम पूछ सकते हैं कि आप के उन विचारों का जो भारत की स्वतंत्रता के संबंध में आप या आपही के समान दूसरे महानुभावों ने अमेरिका के सामने रक्खा उस पर आप के देश ने कौन सी संतोषजनक कार्यवाही की ! भारत की प्रमुख राज-नीतिक संस्था कांग्रेस की राजनीतिक स्वतंत्रता की मांग पर अमेरिका ने कौन सी प्रभावशाली सहानुभूति प्रगट की ! इन राजनीतिक कसौटी पर अमेरिका के संबंध में मि० विल्की के विचार खरे नहीं उतरते। इन बातों को ध्यान में रखते हुए हमें मि० विल्की के विचारों से महात्मा गांधी के विचार अधिक युक्तियुक्त और व्यावहारिक प्रतीत होते हैं।

गत पचीस वर्षों से विश्व-शान्ति की दिशा में जो प्रयत्न महात्मा गांधी ने किया है, वह किसी बड़ी संस्था के लिए भी सरल नहीं है। सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त को कांग्रेस की नीति बनाकर चालीस करोड़ भारतवासियों को उन्होंने शान्ति के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया है। संसार के प्रमुख राजनीतिज्ञ और विचारक यह स्वीकार करते हैं कि यह पुरुष अद्वितीय और समय से आगे है। स्वार्थ तथा अन्य कमज़ोरियों के वशीभूत होकर संसार उसकी आवाज़ को आज न सुने, परन्तु एक समय आयेगा जब कि शान्ति की प्रयोगशाला में इन्हीं विचारों की चर्चा होगी। भगवान बुद्ध ने जिस शान्ति का उपदेश दिया था और जिसके द्वारा उनकी आत्मा अमर है, उससे कम महत्व गांधी जी के विचारों का नहीं है। कुछ वर्ष हुए उन्होंने एक ऐसे संघ की कल्पना की थी जो अहिंसा का अधिक से अधिक प्रयोग और प्रचार कर सके। यदि इसकी शाखायें अन्य देशों में कार्य करें तो युद्ध की ज्वाला संसार से बुझ सकती है। कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो शान्ति का इच्छुक न हो। बड़ा से बड़ा राजनीतिज्ञ या पदाधिकारी आवेश में आकर फ़ौजी क़ानूनों को काम में भले ही लाये, किन्तु उसे भी शान्ति की उतनी ही आवश्यकता है जितनी एक साधारण व्यक्ति को। जब तक संसार के प्रमुख विचारक दुनिया के सामने शान्ति की योजना रखने और उसे कार्यान्वित करने में सफल नहीं होते, तब तक युद्ध की भयंकरता जारी रहेगी। केवल योजना काफ़ी नहीं है। इससे भी बढ़कर उन रचनात्मक कार्यों की आवश्यकता है, जिनसे मनुष्य को एक दूसरे से लाभ उठाने का वहीं तक अवसर प्राप्त हो जहाँ तक वह उसे अपना मित्र व सम्बन्धी समझता है। शोषण का भाव लड़ाई की तह में मौजूद है और इसे निकालने का इलाज यही है कि विचारक और सुधारक दोनों सात्विक कार्यों में संलग्न होकर संसार को शान्ति का पाठ पढ़ावें।

अध्याय ७

प्रजातन्त्रवाद की कठिनाइयाँ

प्रजातन्त्र के मूल तत्वों पर विचार करते हुये इस बात का वर्णन किया गया है कि अभी तक सच्चा प्रजातन्त्र किसी देश में स्थापित नहीं किया गया। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसका कोई विशेष आकार है जिसके स्थापन में देशवासियों को कठिनाइयाँ आती हैं। सरकार का ऊपरी ढाँचा एक गौण विषय है। इसका मूल तत्व इसके अन्दर की छिपी हुई भावना है, जिसे शासन नीति कहते है। सरकार की नीति इस बात का फैसला करती है कि वह कितना लोकप्रिय बन सकती है। आम जनता तथा राजनीतिज्ञों तक को उसके ऊपरी आकार पर किसी तरह का सन्देह नहीं होता। कभी कभी यह बाह्य रूप महत्व रखता है परन्तु इसका बहुत कुछ कारण व्यक्तिगत है। उदाहरण के लिये हम राजतन्त्र को ले लें। प्रजा की सर्वसम्मति से सिंहासनारूढ़ एक राजा अपने को दो दिशाओं में ढाल सकता है। यदि उसकी नीति लोक हित की भावना है तो राजतन्त्र कोई बुरी चीज़ नहीं है। परन्तु यह बात उसके व्यक्तिगत आचार विचार पर ही निर्भर है। दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि वह अपनी स्वार्थ पिपासा में लीन होकर प्रजा की कोई चिन्ता न करे। ऐसी दशा में राजतन्त्र एक प्रकार की बला है। यही दशा प्रत्येक शासन प्रणाली की मानी गई है। अरस्तू भी इस बात से सहमत है कि प्रत्येक सरकार दो भावनाओं से शासन करती है। एक में प्रजा का हित होता है और दूसरी में उसका शोषण। आकार का महत्व वहीं तक है जहाँ तक प्रजा अपनी स्वतन्त्र इच्छा से उसे स्वीकार कर ले। सम्भव है एक ही आकार कुछ देशों में सर्वप्रिय और कुछ में निन्दनीय सिद्ध हो। वर्तमान समय में भी ऐसे आकार मौजूद हैं जिन्हें कुछ देश अच्छा और कुछ बुरा समझते हैं। तानाशाही जर्मनी और इटली के लिये अच्छी है परन्तु ब्रिटेन और अमेरिका उसे पसन्द नहीं करते। सम्पूर्ण [illegible] [illegible] दूसरा

करता है। समाजवादी सरकार रूस को प्रिय है परन्तु कुछ राष्ट्र उसे खतरे की चीज़ समझते हैं।

इस विश्लेषण से यह सिद्ध है कि प्रजातन्त्र की स्थापना में कोई बाहरी कठिनाई नहीं हो सकती। जो देश इस बात पर तैयार है कि उसमें रहने वाले सच्चाई और ईमानदारी का जीवन व्यतीत करें उसे दूसरे क्यों और कैसे रोक सकते हैं। किसी देश की सरकारी फौज इस बात पर ज़ोर नहीं देती कि अमुक देश के साथ लड़ाई का एलान किया जाय। इसका फैसला उस देश के राजनीतिज्ञ और प्रधान सरकारी कर्मचारी ही करते हैं। उनकी नीति यदि लड़ाई के विरूद्ध है तो फ़ौज और हथियार निरर्थक और अहिंसक रहेंगे। कोई अन्य देश यह नहीं चाहता कि अमुक देश लड़ाई का एलान करे और संसार की शान्ति भंग करने का दोषभागी हो। मनु के सिद्धान्त को सभी स्वीकार करते हैं कि "सामाजिक व्यवस्था के बिना प्रजा को सुख नहीं मिल सकता।" प्रजातन्त्र इसी प्रकार की एक सामाजिक व्यवस्था का नाम है। सरकार सामाजिक व्यवस्था का एक प्रधान अंग है। जैसा समाज होगा वैसी सरकार भी होगी। अतएव प्रजातन्त्र की पहली कठिनाई प्रजातन्त्र के अनुकूल समाज का निर्माण करना है। जो समाज अपने व्यक्तियों को सुख और विलासिता की ऐसी शिक्षा देता है जिससे उनके अन्दर स्वार्थ और लोभ की लिप्सा बढ़ती है वह इच्छा रखते हुए भी प्रजातन्त्र की स्थापना नहीं कर सकता। राजनीतिक व्यवस्था से बढ़कर एक सुव्यवस्थित समाज है जो बहुत कम देशों में पाया जाता है। राजनीतिज्ञ सरकार का निमार्ण करते हैं परन्तु समाज के निर्माता वे सत्पुरुष और महानुभाव होते हैं जिन्हें मानव जीवन का गम्भीर अनुभव और आदर्शों का व्यावहारिक ज्ञान उपलब्ध है।

यह प्रश्न बहुत ही गम्भीर है कि प्रजातन्त्र के लिए किस प्रकार के समाज की आवश्यकता है। एक अंग्रेज़ विद्वान् प्रजातन्त्र की व्याख्या करते हुये लिखता है "प्रजातन्त्र ईसाई समाज की देन है। ईसाई धर्म के अनुसार जो सामाजिक संगठन ठहराया गया है वह प्रजातन्त्र की भावनाओं से ओतप्रोत है।" वास्तव में यह कहना कठिन है कि ईसाई धर्म के अनुसार किस देश का

प्रजातन्त्र बनाया गया है। लेखक ने पादरियों के सरल और निस्पृह जीवन को देखते हुये यह अनुमान किया है कि यह भावना प्रजातन्त्र को सफल बना सकती है। परन्तु भारतवासियों के लिए सैकड़ों ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जिनमें सामाजिक व्यवस्था का ऊँचा से ऊँचा आदर्श पाया जाता है। बौद्ध धर्म ने जिस सामाजिक व्यवस्था का जन्म दिया है वह ईसाई धर्म से कहीं ऊँचा है। बौद्ध भिक्षु अपने पास कोई सम्पत्ति नहीं रख सकते। सेवा और त्याग उनके जीवन का कार्यक्रम माना गया है। भोजन और वस्त्र के अतिरिक्त वे किसी अन्य चीज़ के अधिकारी नहीं हैं। यह है प्रजातन्त्र की भावना जो शान्ति और सन्तोष के आधार पर बौद्ध संघों का निर्माण करती है। यदि सम्पूर्ण समाज इसका अनुयायी बन गया होता तो राजनीतिक प्रश्नों की कठिनाइयां उपस्थित न होतीं। लोगों को यह समझने में कठिनाई होती है कि सारा संसार किसी एक धर्म को कैसे मान सकता है? परन्तु कतिपय विद्वानों को इस बात में संदेह नहीं है कि कोई एक सामाजिक व्यवस्था सर्वप्रिय हो सकती है।

धर्म से ही समाज का निर्माण होता है यह कोई आवश्यक नहीं है। भारतीय समाज का निर्माण यदि धर्म के आधार पर किया गया है तो इसका बहुत कुछ कारण भारतीय संस्कृति की विशेषता है। आर्य भूमि में धर्म का वातावरण अनादि काल से व्याप्त है। इस सम्बन्ध में हजारों महापुरुषों ने इतना अधिक विचार किया है कि इससे हटकर सोचने-वालों को अपनी विचार धारा पर सन्देह होता है। धार्मिक भावनाएँ भारतीय जनता में इस सीमा तक घुसी हुई हैं कि उनका निकालना सरल नहीं है। लेकिन उन्हें निकालने की कोई आवश्यकता भी नहीं है। यद्यपि धर्म की आड़ में हमारे देश में नाना प्रकार की बुराई फैली हुई हैं और आम जनता इसके वास्तविक रहस्य से दूर हट गई है फिर भी जहाँ तक इसके सामाजिक कल्याण का सम्बन्ध है वह कम नहीं है। माना कि गंगा स्नान एक अन्ध विश्वास की चीज है और स्नान करने वालों को ढोंगी पुजारी झूठे आध्यात्मिक प्रलोभनों से लूटने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते। अनेक कठिनाइयाँ सहन करते हुए, सैकड़ों मील की यात्रा करके लोग प्रयाग का दर्श

करते हैं और अपने को कृतकृत्य समझते हैं। यद्यपि यह अन्ध विश्वास वर्तमान वैज्ञानिक युग में एक हँसी की चीज है, परन्तु जब हम इसकी गहराई में प्रवेश करते हैं तो हमें यह योजना समाज को ठीक रखने का एक बहुत बड़ा साधन मालूम पड़ती है। धार्मिक रूढ़ियों और दान पुण्य को छोड़कर जब हम इसके रहस्य पर विचार करते हैं तो इसके अन्दर हमें दो बातें दिखाई पड़ती हैं। एक तो यह कि अपनी कमाई का कुछ हिस्सा भारतवासी प्रतिवर्ष दूसरों को दे देना चाहते हैं। दूसरा यह कि गंगा नदी के किनारे एक विशेष संस्कृति का निर्माण हुआ है और उसके सम्मान का भाव लोगों में आज भी मौजूद है।

आखिर इसके अन्दर बुराई क्या है? एक तो अन्ध विश्वास, दूसरी निरर्थक दान और तीसरी आपत्ति के समय भी एक बहुत बड़ी संख्या में एकत्र होना। लेकिन आश्चर्य तो यह है कि वर्तमान उन्नतिशील देशों में भी भीड़ लगने के साधन बनाये गये हैं, दान पुण्य उन्हें भी अच्छे हैं और जिसे हम अन्ध विश्वास कहते हैं उसके स्थान पर उन्हें इससे भी बदतर चीज पसंद है। क्या निर्वाचन के समय वृटेन अमेरिका तथा अन्य प्रजातन्त्रवादी देशों में लोगों का जमघट कम होता है। तीर्थस्थानों में तो देने और कुछ सुनने के लिये लोग लालायित रहते हैं परन्तु निर्वाचन केन्द्र तो स्वार्थ और झूठ के स्थान होते हैं। इस कसौटी पर धार्मिक प्रजातन्त्र वर्तमान प्रजातन्त्र से कहीं ऊँचा और वैज्ञानिक हैं। ऐसी दशा में धार्मिक प्रजातन्त्र स्थापित करने में लोगों को क्या कठिनाई है? एक तो सभी देशों में धार्मिक वातावरण इतना अधिक नहीं है जितना भारतवर्ष में है। धर्म के आधार पर भारतवर्ष में यदि प्रजातन्त्र स्थापित किया जाय तो यह संसार के लिए एक आदर्श हो सकता है। परन्तु वर्तमान वैज्ञानिक विचार धर्म के पक्ष में नहीं है। तर्क वितर्क से भिन्न कोई भी विधान लोगों को बीसवीं सदी में प्रभावित नहीं कर सकता। इसलिए धार्मिक प्रजातन्त्र में सबसे बड़ी कठिनाई विश्वास और सांस्कृतिक परम्परा है।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या धर्म को छोड़कर प्रजातन्त्र की

स्थापना हो सकती है ? यद्यपि धर्म ने मानव समाज का कोई अपकार नहीं किया है और इसके प्रति लोगों की जो उदासीनता है उसका बहुत कुछ कारण धार्मिक दुरुपयोग की भावना है, फिर भी इसे अलग रखते हुये प्रजातन्त्र के स्थापन में कोई रुकावट नहीं है। जो समाज जिन भावों से प्रभावित है उसे उनका अटूट सम्बन्ध रक्खा जाय। लेकिन कुछ ऐसे भी समाज हैं जिनके अन्दर स्वार्थ और अहंकार के भाव प्रधान हैं। इन्हें जीवित रखते हुये प्रजातन्त्र की स्थापना कैसे हो सकती है। इस आधार पर जब प्रजातन्त्र की स्थापना होगी तो यह सब देशों में एकसा नहीं रह सकता। इसका ऊपरी आकार भिन्न भिन्न होगा। लेकिन सुख और शान्ति की व्यवस्था में आकार की भिन्नता का प्रश्न ही नहीं उठता। एक माता पिता के कितने ही लड़के होते हैं। इनका रूप रंग, बुद्धि, विचार, उद्देश्य—सब अलग अलग होते हैं। फिर भी माता पिता समान रूप से एक ही श्रद्धापूर्वक सब का पालन पोषण करते हैं। संसार के सब देश अपने अपने तरीके पर कोई ऐसा विद्यान बना लें जिसके अन्दर शान्ति की पूर्ण व्यवस्था हो और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में कोई बाधा न पड़े तो इसमें किसी को कदापि आपत्ति न होगी।

वास्तव में प्रजातन्त्र की सबसे बड़ी कठिनाई इसकी आर्थिक व्यवस्था है। वर्तमान युग में रुपया पैसा जीवन का वह अंग है जिसकी पुष्टि पर सुख और उन्नति का सारा भार पड़ता है। समाज में कोई कितना भी विद्वान, प्रतिभाशाली, कलाकार, अनुभवी, उद्योगी, निःस्वार्थसेवी तथा राष्ट्रीय क्यों न हो, जब तक उसके पास पैसे नहीं, उसका जीवन मिट्टी सरीखा है। साधु सन्तों के ऊपरी आकार तथा सज-धज को देखकर लोग उन्हें भीख तक देने लगे हैं। यह कहना अनुचित नहीं है कि इस युग में 'भाई भलो न भैयो, सबसे भलो रुपैयो' वाला सिद्धान्त चारों ओर दिखाई पड़ रहा है। पिता पुत्र से, राजा प्रजा से, साहु ऋणी से, बुद्धिमान मूर्ख से पैसे की इतनी आशा करने लगे हैं कि दोनों के हित में हानि की आशंका खड़ी हो गई है। एक देश दूसरे से युद्ध इसी लिये करता है कि उसकी आर्थिक शक्ति में कमी न होने पाये। कचहरियों में ८० प्रतिशत मुकदमें धन सम्बन्धी होते हैं। तुलसीदास

का कहना अक्षरशः सिद्ध हो रहा है कि :—

मातु पिता बालकन बुलावहिं। उदर भरे सोइ धर्म सिखावहिं॥

इस आर्थिक व्यवस्था का विचार एक स्वतन्त्र अध्याय में किया गया है। यहाँ पर इतना कहना आवश्यक है कि जब तक आर्थिक व्यवस्था ठीक न होगी और समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग ग़रीब और दुखी रहेगा तब तक सामाजिक शान्ति असम्भव है। जब समाज में अशान्ति होगी तो प्रजातन्त्र की उन्नति तो दूर, इसका अस्तित्व भी डावांडोल हो जायेगा।

वर्तमान विश्वव्यापी संघर्ष में संसार के लगभग सभी प्रजातन्त्रवादी देश संलग्न हैं। राष्ट्रसंघ के तमाम प्रयत्नों के बावजूद यह युद्ध इतना भयंकर रूप धारण कर लिया है कि संसार का नकशा ही बदलता दिखाई पड़ रहा है। इस युद्ध का दोषारोपण किस पर किया जाय। माना कि लड़ाई एक प्राकृतिक क्रिया है और मानव समाज उसमें साधन मात्र है। यदि प्रकृति इसे रोक भी दे तो इससे मनुष्य का कोई कल्याण नहीं है। संसार की बढ़ती हुई जनसंख्या को कम करने का उसके पास युद्ध, महामारी, भूचाल आदि साधनों को छोड़कर और कोई चारा नहीं है। फिर भी मनुष्य निर्दोष नहीं है। उसका प्रयत्न दो ही दिशाओं में दिखाई पड़ता है। या तो वह अपने को प्रकृति के अनुकूल बनाना चाहता है अथवा उस पर विजय प्राप्त करके अपनी नवीन योजना को कार्यान्वित करना चाहता है। प्रकृति की अनुकूलता में उसका कोई संघर्ष नहीं है। इतना अवश्य है कि संसार की प्रगति इसे पार कर गई है और आज चारों ओर वे साधन दिखाई पड़ने लगे हैं जिनसे प्रकृति पर विजय की आशा और दृढ़ होती मालूम पड़ती है। चूँकि प्राकृतिक विजय में मनुष्य इधर-उधर कुछ ग़लतियाँ कर बैठता है इसलिये उसे एक भयंकर युद्ध का सामना करना पड़ता है। यदि वह सभी साधनों को समान रूप से मानव समाज को उपलब्ध होने दे और स्वार्थ की मात्रा को कम कर दे तो वह युद्ध आदि प्राकृतिक संघर्ष से बँच जाय। अतएव युद्ध की यह प्राकृतिक क्रिया सर्वमान्य नहीं है।

युद्ध का यह कारण उन्हीं लोगों को मान्य होगा जो मनुष्य को देवता

समझते हैं और भाग्य को छोड़कर प्रयत्नों में विश्वास नहीं करते। क्या यह कहना अनुचित है कि साम्राज्यवादी देश अपने स्वार्थ के लिये आज दुनिया को अशान्त कर रहे हैं। इन्होंने संसार को सभ्य तथा सुव्यवस्थित बनाने का मानों ठेका सा ले लिया है। जिस प्रजातन्त्र का ये स्वांग रचते हैं वह इनकी स्वार्थ सिद्धि का एक दृष्टान्त है। इसीलिये प्रत्येक देश के शासन विधान में एक खोखलापन दिखाई पड़ता है। इनका सिद्धान्त चाहे जितना ऊँचा हो, परन्तु इनकी कार्य पद्धति में वह पशुता मौजूद है जिससे जंगली जानवरों तथा असभ्य जातियों में लड़ाइयाँ होती हैं। इन साम्राज्यवादी देशों में वे सारी कमजोरियाँ मौजूद हैं जो एक अत्यन्त पिछड़े हुये देश में पाई जाती हैं। हर प्रकार का संघर्ष और आध्यात्मिक जीवन का ह्रास इनकी बर्बरता को और भी बढ़ा रहा है। अपने सिद्धान्तों को तो वे समानता, सहयोग और न्याय के पाये पर खड़ा करते हैं, लेकिन स्वयं अपने कार्यों में इनका ध्यान नहीं रखते। अपने देशवासियों के सुख के लिये कितने ही देशों के व्यापार को रोक देते हैं। इनकी वैधानिक कार्यपद्धति इतनी दूषित होती है कि सरकारी कर्मचारी घूसखोरी, दग़ाबाजी, चोरी, अत्याचार आदि घृणित कर्मों को बड़े शौक से करते रहते हैं। संसार में शायद ही दो चार देशों की शासन पद्धतियाँ इन बुराइयों से वंचित होंगी। साम्राज्यावाद की इस दूषित भूमि पर सच्चा प्रजातन्त्र कैसे स्थापित हो सकता है। यह कठिनाई कोई सरल नहीं है। संसार की बागडोर जिन देशवासियों के हाथ में दिखाई पड़ रही है वे अपने इस खोखलेपन को दूर करने के लिये तैयार नहीं हैं। इसके विपरीत उन्हें अपनी सभ्यता, अपनी शासन प्रणाली तथा अपनी सभी कार्य पद्धतियों का विशेष गर्व है। इसी को संगठित करने में उनकी सारी शक्ति आज लगी हुई है और प्रजातन्त्र के असली तत्वों पर विचार करने के लिये वे तैयार नहीं हैं।

वैज्ञानिक साधनों के कारण संसार के सामाजिक विधान पहले से काफ़ी बदलते जा रहे हैं। लेकिन जिस तेज़ी से इन साधनों में वृद्धि हुई है और आज भी होती जा रही है उतनी तेज़ी से ये सामाजिक विधान न बदल सके। कारण यह है कि बाहरी साधन तो जब चाहें बदले जा सकते हैं, परन्तु भीतरी

मनोवृत्ति को बदलने में देर होती है। जिस जीवन को समाज एक बार अपना लेता है उसे छोड़ने में कठिनाई होती है। मनुष्य अपनी आदतों का दास होता है। छोटी छोटी चीज़ों की आदत जब मनुष्य से नहीं छोड़ी जाती तो बड़ी आदतों को वह कैसे तर्क कर सकता है। यही कठिनाई अब दुनिया के सामने भी मौजूद है। लेकिन इसके दो पहलू हैं। एक तो यह कि नये नये साधन सबको समान रूप से उपलब्ध नहीं हैं। इससे वर्गवाद की वृद्धि होती है और समाज धनी, ग़रीब, विद्वान, मूर्ख, सभ्य असभ्य, आदि वर्गों में बँटा दिखाई पड़ता है। जिन्हें ये साधन सुलभ हैं वे अपने को सभ्य, सुशिक्षित तथा उन्नतिशील बना लेते हैं। बाकी जहाँ के तहाँ रहते हैं। वह भी समाज कि ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि बुराइयों का एक कारण होता है। दूसरे पहलू के अनुसार कुछ देशों को इन वैज्ञानिक साधनों की वृद्धि में सुविधा मिली और उन्हें यह अवसर प्राप्त हुआ कि ये अन्य देशों पर हावी हो जायँ। उन्हें इस बात की दिलचस्पी न थी कि इन साधनों को सबको उपलब्ध करायें, बल्कि वे उन्हें तरह तरह की रोक थाम से कुछ ही दूर तक बढ़ने का अवसर देते। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ दुनिया के कुछ देश उन्नति की चोटी पर पहुँच गये वहाँ कुछ देशों की कार्यप्रणाली १५ वीं और १६वी शताब्दी की ही चलती रही। इतनी विषमता के रहते हुये प्रजातन्त्र कैसे सफल हो सकता है। इसकी अवश्यकतायें तो समानता पर निर्भर करती हैं। जब तक समाज में अधिक से अधिक समता नहीं होती तब तक लोग एक सूत्र में कैसे बाँधे जा सकते हैं। एक नाप का कपड़ा अथवा अन्य वस्तु व्यक्तियों को तभी शोभा देंगी जब वे समान रूप से हृष्ट पुष्ट और सुयोग्य हों।

ऊपर के उद्धरण और विवेचन से स्पष्ट है कि विषमता के रहते हुये कोई भी उत्तम विधान सफल नहीं हो सकता। प्रजातन्त्र के सामने भी यही कठिनाई उपस्थित है। हिन्दोस्तान में इसकी सफलता और भी कठिन है। एक ओर तो कालेज और विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले विद्वान हैं और दूसरी ओर गावों में रहने वाले अशिक्षित किसान और मज़दूर हैं। एक तरफ़ शहरों की चमक दमक और इनमें रहने वाले नागरिकों का संगठित

जीवन है और दूसरी ओर टूटे फूटे घर वाले गाँव तथा उनका विखरा हुआ जीवन है। एक तरफ़ धनी मानी तथा लम्बी लम्बी तनख़ाहें पाने वाले सरकारी अफसर हैं तो दूसरी ओर दीन दुखी किसान दाने दाने को मुहताज हैं। भला इन विषमताओं के रहते हुये इस देश का कल्याण हो सकता है। इसे तो साधारण बुद्धि भी स्वीकार नहीं कर सकती। किसी वैधानिक चर्चा का प्रश्न तो तभी उठना चाहिये जब यह सामाजिक कमजोरी दूर कर दी जाय। यदि हम शासन विधान को इतना दृढ़ मानते हैं कि वह समाज को अपने रूप में ढाल सकता है तो प्रजातन्त्र की स्थापना अनिवार्य है।

प्रश्न यह है कि क्या ये कठिनाइयाँ दूर की जा सकती हैं और सच्चा प्रजातन्त्र स्थापित हो सकता है? समाज निर्माण की जितनी भी पद्धतियाँ हैं वे कार्यान्वित हो सकती हैं। इनमें यदि कोई पद्धति अपनी विशेषता रखती है और उसके अन्दर लोकहित के बीज मौजूद हैं तो कोई कारण नहीं कि उसे सफल न बनाया जाय। शासन पद्धतियों का निर्माण समाज के आधार पर होता है। जैसा समाज होगा वैसी ही साधन पद्धति उसमें सफल होगी। इसलिये शासन विधान का मूल तत्व समाज है। जिस समाज का निर्माण विषमता पर हुआ है और जहाँ समता के लिये समय समय पर प्रयत्न नहीं हुये हैं उनमें प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता। ऊपरी दृष्टि से लोग उन्हें सफल कह सकते हैं, परन्तु न तो उनमें आन्तरिक शान्ति होगी और न वे संसार को शान्त रहने देंगे। पाश्चात्य प्रदेशों का प्रजातन्त्र इसी विषम समाज पर खड़ा किया गया है। इसीलिये जहाँ जहाँ इन देश वासियों का प्रसार हुआ है वहाँ यह बुराई अपना घर करती गई है। हिन्दोस्तान के इतिहास में सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं जब कि इस देश में समता के अनेक रूप रक्खे गये हैं और सन्त महात्माओं तथा राजनीतिज्ञों ने समाज में इसे प्रवेश कराने का सतत प्रयत्न किया है। आज भी इस देश का नेता और संसार का महापुरुष महात्मा गाँधी चरखे तथा घरेलू कार्यों की उन्नति को ही अपना कार्य क्रम बनाये हुये हैं। यही समता प्रजातन्त्र को सफल बना सकती है। अतएव हिन्दोस्तान प्रजातन्त्रवाद के लिये सबसे अधिक उपयुक्त है। बाक़ी देशों को

पहले समता के आधार पर अपना समाज निर्माण करना होगा। यदि वे अपनी इस कमजोरी को महसूस नहीं करते तो उनके प्रजातन्त्रवादी होने का बहाना निकट भविष्य में खुलकर ही रहेगा और उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना होगा।

अध्याय ८

प्रजातन्त्र की आर्थिक व्यवस्था

प्रजातन्त्र के सभी अंगों पर विचार करते हुये हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि जब तक एक सुव्यवस्थित समाज की स्थापना न होगी तब तक यह वाद आदर्श ही रहेगा। यदि इसे क्रियात्मक रूप देना है तो समाज की उस असलियत को पहिचानना होगा जिस पर देश के सम्पूर्ण नागरिक बराबरी की हैसियत से खड़े हो सकें। जब हम नागरिक की शिक्षा, उसके आचार विचार तथा उन्नति की अन्य बातों पर विचार करते हैं तो हमारी नज़र उसकी आर्थिक व्यवस्था पर भी जानी चाहिये। वर्तमान युग में रुपया पैसा मनुष्य की उन्नति का एक महान साधन है। जिसके पास खाने पीने तथा तन ढकने का ठिकाना नहीं है उसके लिये यह चमकती दुनियाँ वीरान जंगल और श्मशान सदृश है। इसलिये हमें नागरिक की उस आर्थिक व्यवस्था पर भी विचार करना होगा जिससे उसकी सांसारिक आवश्यकतायें पूरी हों और उसे इस बात का अवसर मिले कि वह लोक परलोक की पेचीदा बातों पर विचार कर सके।

कुछ लोगों की धारणा है कि गांधी जी आध्यात्मिक जीवन पर अधिक विचार करते हैं और सामाजिक व्यवस्था उनके लिये एक गौण वस्तु है। परन्तु उनका आर्थिक आदर्श कम महत्त्व नहीं रखता। उसका आधार स्वावलंबन और स्वदेशी है। अर्थात् हर व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये यथासंभव स्वावलंबी हो। जिस स्वतन्त्रता की वे कल्पना करते

ईं उसका मूल आर्थिक स्वतन्त्रता है। उनका कहना है कि विदेशियों की राजनीतिक आधीनता से मुक्त हो जाने पर भी यदि भारतवर्ष आर्थिक आव-श्यकताओं के लिये शक्ति संचालित बड़े बड़े कारखानों के आश्रित रहा तो वह स्वतन्त्र नहीं है। इस प्रकार की केन्द्रित उत्पत्ति में उत्पत्ति के साधनों पर जिसका अधिकार होगा, समाज के जीवन पर उसी का नियंत्रण होगा, चाहे वह पूंजीपति हो, राष्ट्र की जनता द्वारा निर्वाचित बुद्धिमान हो, प्रतिनिधिओं की समिति हो या शोषित वर्ग का अधिनायक हो। मनुष्य का पूर्ण विकास तभी संभव है जब वह आर्थिक दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र हो। उत्पादक ही उत्पत्ति के साधनों का स्वामी हो और वह अपने श्रम से उत्पादित वस्तु का स्वयं पूर्ण उपयोग कर सके। यही गांधी जी के कल्पित समाज की आर्थिक व्यवस्था है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जितना ही केन्द्र के आश्रित होगा उतना ही वह परतन्त्र और जितना ही स्वावलम्बी हो सकेगा उतना ही स्वतन्त्र होगा। परन्तु यह 'विकेन्द्री करण-सिद्धान्त' केवल 'राम-राज्य' में संभव है।

कोई भी समाज शास्त्र का पण्डित आर्थिक-व्यवस्था को गौण नहीं समझता। विशेष कर यह व्यवस्था उस समय और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है जब कि समाज को एक सांचे में ढालना है। वर्तमान युग की कोई भी सरकार आर्थिक प्रश्नों को गौण स्थान नहीं दे सकती। जिसने इसकी ओर से थोड़ा भी मुह मोड़ा है उसे विदेशी सरकारों के गहरे धक्के खाने पड़े हैं। प्रजातन्त्र कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसका निर्माण देश के दो चार प्रमुख व्यक्ति करते हैं। इसका निर्माण देश की सम्पूर्ण जनता अपने त्याग और बल से क़रती है। इसके अन्दर सब की बुद्धि, सब की इच्छा और सब की लगन होती है। जब तक लोगों का यह विचार जीवित रहता है तब तक प्रजातन्त्रवादी संस्थायें सुचारु रूप से उनकी सेवायें करती रहती हैं। इसीलिये जो प्रजातन्त्र व्यक्ति की आवश्यकताओं की उपेक्षा करते हैं और जहाँ कति-पय प्राणी भूखे नंगे और अशिक्षित रहते हैं, उन्हें हम ढोंगी प्रजातन्त्र ही कह सकते हैं। यह कैसे सम्भव है कि दीन दुखी अथवा असहाय व्यक्ति प्रजातन्त्र

के ऊँचे आदर्शों की पूर्ति करेंगे। इस शासन पद्धति के अन्दर सभी व्यक्तियों को सुखमय जीवन व्यतीत करना होगा। लेकिन यह तभी सम्भव है जब कि देश कृषि अथवा व्यापार से पूर्णतया समृद्ध हो।

समाज-शास्त्र वेत्ताओं का विचार है कि इस अवस्था को लाने के लिये वैज्ञानिक साधनों का पूर्ण उपयोग करना होगा। डाक्टर वेनीप्रसाद का कहना है कि सरल जीवन का प्रचार और प्रजातन्त्र की सफलता दोनों एक साथ नहीं चल सकते। विज्ञान से उदासीन होकर कोई देश अपनी संस्थाओं को उन्नति का वह रूप नहीं दे सकता जिसकी उसे आवश्यकता है। वैज्ञानिक खोज मनुष्य में एक तरह का मानसिक अनुशासन पैदा करती है। उसमें मनुष्य को पक्षपात छोड़ कर ईमानदारी के साथ खोज करने की आदत पड़ती है। आज संसार को भ्रम में डालने वाली जो अनेक समस्यायें खड़ी की गई हैं उनके हल करने में यह मानसिक अनुशासन बहुत मदद दे सकता है। लोग कहते हैं कि युद्ध में पहली मौत सत्य की होती है। विज्ञान हमें सिखलाता है कि युद्ध के युग में भी मानसिक ईमानदारी का पालन न करना एक बहुत भारी गुनाह है। विज्ञान हमें धीरज सिखाता है तथा पक्षपात रहित बनाता है। वह हमें तत्काल परिणाम पर पहुँचने से रोकता है। कल्पना और सन्देह दोनों को महत्त्व देकर इनकी सच्ची कीमत समझाता है। भावुकता और पक्षपात से भरी इस दुनियाँ में वह हमें प्रमाणों को तौलना सिखाता है। विज्ञान ही इस तरह का न्याय युक्त जनमत तैयार कर देता है जो हमारी राजनीतिक और सामाजिक सब बुराइयों को दूर कर सके। वैज्ञानिक कृषि के ऊपर ही जनमत का भविष्य निर्भर है। विज्ञान और नये नये कल कारखाने दुनियाँ की शकल को इस तरह बदल रहे हैं कि सारी दुनियाँ तेजी के साथ एक आर्थिक इकाई बनती जारही है। मानव जाति का भविष्य तभी सुन्दर और ज्योतिर्मय हो सकता है जब कि वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पाठ को पूरी तरह दिल में उतार लें।

भौतिक उन्नति के बिना सभी सामाजिक योजनायें नीरस और निस्सार हैं। लेकिन इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि देश के इने गिने चन्द लोगों के पास अतुल सम्पति हो और बहुसंख्यक जनता दुखी और दरिद्र जीवन

व्यतीत करे। यदि सम्पत्ति का विकेन्द्रीकरण नहीं है तो उन्नतिशील देश भी प्रजातन्त्र की स्थापना नहीं कर सकता। कृषि तथा अन्य व्यवसाय जब तक वैज्ञानिक रूप से नहीं किये जाते और इनके विकेन्द्रीकरण की कोई पुष्ट योजना नहीं बनाई जाती, तब तक प्रजातन्त्र की भावना कल्पना-मात्र रहेगी। इसके साथ ही प्रजातन्त्र उन देशों में भी सफल नहीं हो सकता जहाँ गरीबी और अमीरी अपनी चरम सीमा को पार कर गई है अथवा वहाँ की जनता युद्ध में संलग्न रहना अपना गौरव समझती है। इसके पहले लोगों के अन्दर समता का भाव नितान्त आवश्यक है। इसीलिए प्रजातंत्र शासन पद्धतियों में सबसे कठिन माना जाता है। जहाँ यह समाज के नेताओं से आशायें रखता है वहाँ जन साधारण से भी इसकी आशायें रहती है। यदि इसे अच्छी तरह कार्यान्वित किया जाय तो इससे नागरिक की स्फूर्ति, स्वावलंबन तथा अन्य आन्तरिक शक्तियों का विकास होता है। चूँकि इसके अन्तर्गत शासन का सम्पूर्ण भार जनता पर अवलंबित है और राजसत्ता में सबका समान अधिकार होता है, इसलिए किसी को असन्तुष्ट अथवा खिन्न रहने का अवसर नहीं मिलता। शासन की इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए एक ऐसे आर्थिक संगठन की आवश्यकता है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे का शोषण न करे और न कोई अकेले ही अतुल संपत्ति का उपभोग करें।

अन्य वस्तुओं की तरह शासन विधान का आयात निर्यात नहीं होता। देश की जनता अपनी बुद्धि से इसका निर्माण करती है और उसी की योग्यता इसे टिकाऊ बनाती है। प्रजातन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि इसकी स्थापना के पहले जनता आर्थिक व्यवस्था की एक समुचित श्रेणी पर आजाय। राजनीतिक समता के पहले आर्थिक समता आवश्यक है। मेज़िनी लिखता है "प्रजातन्त्र उस विधान को कहते हैं जिसके अन्दर सारा जन समूह प्रधान नेताओं के आधिपत्य में समान रूप से अपनी उन्नति करता है।" इसी तरह के विचार कुछ यूनानी विद्वानों के भी हैं। अर्थात् जनता उन्नति की उस सतह तक पहुँच जाय जहाँ से वह अपूर्व जीवन का अनुभव कर सके। हिन्दोस्तान के पुराने आचार्यों ने भी यही विचार प्रकट किया है कि जो जनता सत असत का

विवेचन नहीं कर सकती वह शान्तिपूर्वक किसी राजनीतिक विधान के अन्दर रहने में असमर्थ होगी।

जनसमूह को उन्नति की एक सतह पर लाने के लिये जिन जिन बातों की आवश्यकता है उनमें आर्थिक उन्नति का प्रथम स्थान है। इसी के द्वारा वह अपने विचारों का प्रदर्शन कर सकती है। जिस देश के निवासी अपाहिज होकर खाली हाथ बैठे रहेंगे वहाँ विचारों की शून्यता के साथ दरिद्र नारायण का ही साम्राज्य होगा। लोक कल्याण के लिए नाना प्रकार के व्यवसाय खोज निकालना, प्रजातन्त्र के अंकुर को विकसित करना है। इससे एक ओर तो लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी और दूसरी ओर उन्हें अपनी प्रतिभा और कौशल को व्यक्त करने का अवसर मिलेगा। देश की बढ़ती हुई जन-संख्या इसके लिये और भी प्रेरित करती है। स्वावलंबन और आत्म निर्भरता के आधार पर विकसित प्रजातन्त्र अधिक टिकाऊ और ठोस होता है। कृषि प्रधान देशों में इसके विकास की अधिक सामग्रियाँ पाई जाती हैं। इसीलिये भारतवर्ष इसके लिये सबसे उपयुक्त माना जाता है। यदि इसकी परतंत्रता दूर हो जाय तो यह देश संसार के आदर्श प्रजातन्त्रवादी देशों में होगा। कृषि एक ऐसा पेशा है जिसमें विषमता का भय नहीं रहता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि किसानों को अशिक्षित और अनभिज्ञ रख कर यह समता कायम रक्खी जाय। उन्हें इस बात का पूर्ण अवसर मिलना चाहिये कि वे वैज्ञानिक रूप से भूमि की उत्पादन शक्ति को बढ़ा सकें। यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या खेती उनकी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये काफी है। अक्सर देखा जाता है कि दैवी प्रकोप के कारण फसलें नष्ट हो जाती हैं और किसानों की दशा दयनीय हो जाती है। खाद्य पदार्थों पर सरकारी नियंत्रण न होने से वस्तुओं का भाव इतना नीचे गिर जाता है कि अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद किसानों के पास पेट भरने तक को अन्न शेष नहीं रहता। ऐसी अवस्था में खेती के साथ साथ अन्य व्यवसायों की भी उन्नति होनी चाहिये। घरेलू काम धंधों से लोगों की रुपये पैसे सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी होती रहेंगी और किसानों को दैवी आपत्तियों का अधिक शिकार न

बनना पड़ेगा। एक की कमी दूसरे से पूरी होगी।

व्यवसायों की उन्नति में वैज्ञानिक साधनों का बहुत बड़ा हाथ है। अब इस बात की संभावना कम है कि कोई देश मशीनों का उपयोग न करे। जहाँ छोटे मोटे घरेलू कारोबार चलेंगे वहाँ बड़े बड़े कल कारखानें भी दिखाई देंगे। फिर तो स्वावलंबन की सभी योजनायें एक अजीब खतरे में पड़ती नज़र आती हैं। यदि स्वतंत्र रूप से कुछ व्यक्तियों को बड़े बड़े कल कारखाने चलाने का अवसर मिला तो बिना किसी रुकावट के देश की संपत्ति इने गिने लोगों के हाथ में चली जायगी। वर्तमान पूंजीवाद इसका जीता जागता उदाहरण है। यदि प्रजातन्त्र के अन्दर इस बाढ़ को रोकने का कोई प्रयत्न न होगा तो वह विषमता को भी नहीं रोक सकता। सरकार को सभी व्यवसायों पर नियंत्रण की नीति रखनी होगी। लेकिन यह नियम उस विदेशी सरकार के लिये नहीं है जो प्रजातन्त्र की सफलता का बहाना लेकर किसी देश की व्यावसायिक उन्नति में रोड़े अटकाये। इसका प्रयोग राष्ट्रीय सरकार ही कर सकती है। यहाँ पर राष्ट्रीय सरकार और प्रजातन्त्रवादी सरकार का भेद लोप हो जाता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि धन वैभव पहले बुद्धि का विनाश करता है और इसी के द्वारा प्रजातंत्र का भी विनाश होता है। इसीलिये किसी राजनीतिज्ञ का कहना है "हे परमेश्वर हमें प्रजातंत्र नहीं चाहिये।" प्रजातन्त्र की व्याख्या करते हुये एक अमेरिकन राजनीतिज्ञ ने लिखा है "सच्चा प्रजातंत्र वह है जिसके अन्दर ईश्वर की दी हुई तमाम वस्तुओं पर सभी लोगों का समान रूप से अधिकार हो।" आगे चल कर वह यह भी लिखता है "प्रजातन्त्र उस प्रतिभा का नाम है जिसके द्वारा मनुष्य अपने दैवी गुणों को अपने तरीके पर व्यक्त कर सके।" केवल शब्दों से प्रजातन्त्र की रक्षा नहीं होती। इसके लिए कार्य की आवश्यकता है। इसी से राष्ट्रीय संपत्ति में वृद्धि होगी। सभी दृष्टियों से उद्योग धन्धों का प्रजातन्त्र के अन्दर एक विशेष महत्व दिखाई देता है। राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी यह भली-भाँति जानते हैं कि अपनी आर्थिक व्यवस्था में असफल प्रजातन्त्रवादी सरकारों को तानाशाही

सरों के सामने छोटा बनना पड़ा है। तानाशाही की वृद्धि इस बात
द्योतक है कि आर्थिक व्यवस्था के बिना किसी देश की सरकार लोकप्रिय न
हो सकती। किसी युद्ध में परास्त हो जाने का आशय यह नहीं है कि वि
ठोस सिद्धान्त की पराजय हो जाती है। पराजय का मूल कारण फौजी अ
सरों की कमज़ोरियाँ तथा युद्ध सामग्रियों का अभाव होता है। पिछले महा
के पश्चात जिन देशों में तानाशाही की स्थापना हुई उनकी आर्थिक व्यव
में एक विशेष परिवर्तन हुआ। इसी के फल स्वरूप इन सरकारों को लो
प्रियता का श्रेय मिला।

प्रजातन्त्र सम्पूर्ण राष्ट्र को एक इकाई मानता है। जैसे शरीर के सभी अ
एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं और एक का सुख दुख दूसरे पर पड़े बि
नहीं रहता उसी तरह राष्ट्र के अन्दर एक कार्य का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है
इसीलिये कृषि तथा अन्य व्यवसायों का संगठन इस प्रकार होना चाहि
जिसमें किसी प्रकार की कमज़ोरी का आभास न हो। यह कदापि संभव न
है कि व्यवसायों की उन्नति के लिये बड़ी बड़ी मशीनों का प्रयोग हो औ
कृषि इन सुविधाओं से वंचित रक्खी जाय। यह समाज को पुष्ट न बना
एक बहुत बड़े अंग को कमज़ोर बनाने का कारण होगा। जहाँ हम विभि
वस्तुओं की उत्पत्ति के लिये नई नई मशीनों का प्रयोग करते हैं, वहाँ खेती
भी हम इस बात का ध्यान रक्खें कि वैज्ञानिक खाद, नहरें, नये प्रकार के ह
तथा पुष्ट बीजों का उपयोग किया जाय। तात्पर्य यह है कि वर्तमान युग
वैज्ञानिक साधनों का उपयोग किये बिना प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता
जब हम अपने दैनिक जीवन में मशीन की बनी छोटी छोटी चीज़ों का उपयो
करने लगे हैं तो उत्पत्ति के बड़े साधनों में इसके प्रयोग में हमें क्या हिच
है? इतना अवश्य है कि इसके पीछे राष्ट्रीय सरकार का होना अत्यन
आवश्यक है।